रंग संवाद

अप्रैल-जुलाई 2012

वनमाली सृजन पीठ (भोपाल) का
त्रैमासिक संवाद पत्र

प्रधान संपादक

संतोष चौबे

संपादक

विनय उपाध्याय

vinay.srujan@gmail.com

संपादक मंडल

राजेश जोशी, राम प्रकाश, मुकेश वर्मा,
महेन्द्र गगन, बलराम गुमास्ता, राकेश सेठी

शब्दांकन : मुकेश सेन

संपादकीय संपर्क :
वनमाली स्मृति सृजन पीठ,
22, E-7, अरेरा कॉलोनी,
भोपाल-462016
फोन : 0755-2423806, मोबाइल : 9826392428
ई-मेल : **vanmalisrijanpeeth@gmail.com**

●●●

ज़रूरी नहीं कि पत्रिका में संग्रहित आलेखों-चित्रों में व्यक्त रचनाकारों के विचारों से 'रंग संवाद' सहमत हो। किसी भी विवाद के लिए न्यायिक क्षेत्र भोपाल रहेगा।

वनमाली सृजन पीठ, भोपाल द्वारा प्रकाशित। मुद्रक - पहले पहल प्रिंटरी, **25**-ए, प्रेस कॉम्प्लेक्स, भोपाल

Print to PDF without this message by purchasing novaPDF (http://www.novapdf.com/)

➲ अनुक्रम

उत्तर-आधुनिक मंच-प्रयोग की चुनौती - कमलेश दत्त त्रिपाठी / 5

बाल रंगमंच : सीमाएँ और सम्भावनाएँ - डॉ. सेवाराम त्रिपाठी / 13

शांति वर्धन : एक स्वप्न का यथार्थ - रामप्रकाश त्रिपाठी / 18

रंगकर्म सुधारना है तो अनुदान की व्यवस्था बदल दो -
रंगमंच-सिनेमा के मशहूर अदाकार राजीव वर्मा से पंकज शुक्ला का साक्षात्कार / 25

अब वे फ़क़ीर नहीं आते - अजातशत्रु / 31

कौन सुनाए, कौन सुनेगा कथा मंजूषा की? - देवप्रकाश चौधरी / 34

अनगढ़ ग्वालों की सुघढ़ कला - डॉ. ओमेन्द्र कुमार / 39

बुंदेली स्वांग : कला भी, कटक्षा भी - हिमांशु द्विवेदी / 40

महत्वाकांक्षाओं से लद गया है रंगमंच -
रंगकर्मी संजय उपाध्याय से एकता गोस्वामी का संवाद / 42

यश चोपड़ा : प्रेमिल छवियों का अनूठा चितेरा - सुनील मिश्र / 46

सृजन के आसपास : देश भर की सांस्कृतिक-साहित्यिक हलचल / 48

शेष-विशेष : आनंद का अनहद - विनय उपाध्याय / 31

पाठक संवाद / 65

शख्सियत

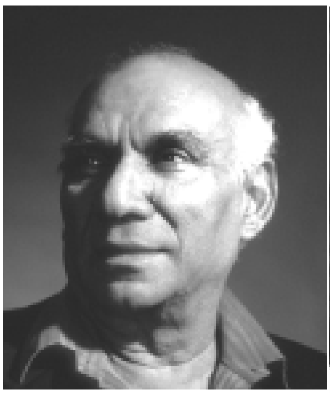
यश चोपड़ा

राजीव वर्मा

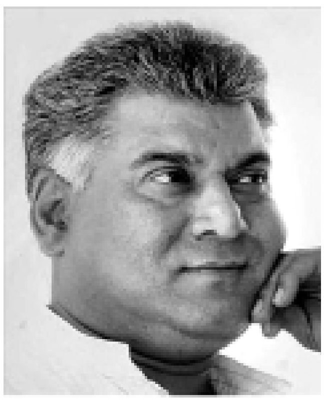
संजय उपाध्याय

आकल्पन : विनय उपाध्याय ● **मुख्य आवरण चित्र** : जावेद असलम ● **अंतिम आवरण चित्र** : के. रवीन्द्र
● **आवरण सज्जा** : वंदना श्रीवास्तव ● **भीतर के छायाचित्र** : विजय रोहतगी, प्रवीण दीक्षित, अमीन अख़्तर, अरुण जैन तथा राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय, नई दिल्ली के सौजन्य से प्राप्त ● **समन्वय सहयोग** : हेमंत देवलेकर, मोहन सगोरिया तथा वसंत सकरगाए

Print to PDF without this message by purchasing novaPDF (http://www.novapdf.com/)

<u>संपादकीय</u>

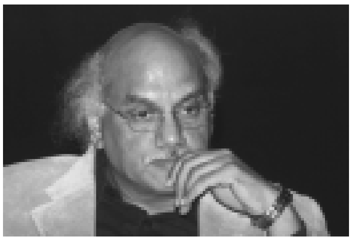

कला और उत्तर आधुनिकता

क्योंकि 'रंग संवाद' के इस अंक में उत्तर आधुनिक मंच प्रयोग की चुनौतियों पर एक बहुत ही महत्वपूर्ण आलेख प्रकाशित है, मैं ज़रूरी समझता हूँ कि उत्तर आधुनिकता के विचार एवं वर्तमान समय में कला की आकाशीय स्थिति पर दृष्टिपात कर लिया जाये. इससे बेहतर क्या होगा कि हम इस काम की शुरुआत कुछ प्रमुख आलोचकों के विचार जानने से करें. पिछले दिनों मैंने उत्तर आधुनिकता के आलोचक फ्रेडरिक जेमसन तथा मार्क्सवादी आलोचक टेरी इगल्टन के कुछ आलेखों का अनुवाद किया था. उन्हीं में से कुछ विचार यहाँ प्रस्तुत हैं. उत्तर आधुनिकता के पूर्ववर्ती वचार के रूप में आधुनिकता का विचार रहा है और आधुनिकता के प्रमुख मूल्यों में प्रगतिशील विचारधारा. इसलिये सबसे पहले देखते हैं कि प्रगतिशील कला क्या है और उसके आकलन में हमसे क्या गलतियाँ होती रही हैं :

प्रगतिशील कला क्या है?

'प्रगतिशील' कला क्या होती है, यह एक ऐतिहासिक प्रश्न है. और हठवादिता के साथ संपूर्ण कालावधि के लिए उसे नहीं सुलझाया जा सकता. कुछ समय और समाज इस तरह के होते हैं कि चेतन तथा प्रगतिशील राजनैतिक प्रतिबद्धता, महत्त्वपूर्ण कलात्मक उत्पादनों के लिए ज़रूरी नहीं रह जाती. कुछ ऐसी भी कालावधियां होती हैं- जैसे कि फासीवाद का समय- जब लिखना और कलाकार के रूप में बचे रहना ही प्रतिबद्धता की निशानी बन जाता है. ऐसे समाजों में चेतन सामाजिक पक्षधरता एवं महत्त्वपूर्ण कलात्मक उत्पादन की क्षमता साथ-साथ उत्पन्न होती है और ऐसा समय सिर्फ़ फासीवाद की अवधि तक सीमित नहीं है. इस चरम सीमा से कहीं अलग स्थितियां भी हो सकती हैं जब बुर्जुआ विश्व में कला अपने आप को निम्न स्तर पर धकेल लेती है, क्षुद्र और नपुंसक बना लेती है, क्योंकि उस समय की प्रचलित बंजर विचारधाराएँ कला को कोई सहारा नहीं दे पातीं, उसमें कोई महत्त्वपूर्ण जुड़ाव पैदा नहीं कर पातीं या उसे किसी गंभीर विमर्श की ओर नहीं ले जा पातीं. ऐसे समय में खुली और उन्मुक्त क्रांतिकारी कलाओं की ज़रूरत महसूस होती है. हमें सोचना होगा कि हम ख़ुद क्या ऐसे ही समय में नहीं रह रहे हैं?

-टेरी इगल्टन

यदि उत्तर आधुनिकता को आधुनिकता का ही परवर्ती स्वरूप माना जाये तो पहले देखना होगा कि 'आधुनिकता' ने कला रूपों में किस तरह का बदलाव किया. एक उदाहरण के तौर पर हम आधुनिकता के प्रतिनिधि नाट्य निर्देशक ब्रेख़्त के नाट्य प्रयोगों पर दृष्टिपात करते हैं :

बर्तोल्त ब्रेख़्त एवं 'महाकाव्यात्मक' नाटक

ब्रेख़्त का प्रयोगधर्मी नाटक ('महाकाव्यात्मक' नाटक) बेंजामिन (वॉल्टर बेंजामिन) के लिए एक ऐसा मॉडल था जो न सिर्फ़ कला के राजनैतिक कथ्य को बदलता है बल्कि उसे उत्पादित करने वाले उपादानों को भी बदलता है. ब्रेख़्त ने, जैसा कि बेंजामिन ने कहा, 'मंच एवं दर्शक, पाठक एवं निर्देशक, निर्माता एवं अभिनेता के बीच के संबंधों को पूरी तरह बदल दिया.' पारंपरिक प्रकृतवादी नाटक के ढांचे को पूरी तरह तोड़ते हुए, जो यथार्थ को विभ्रम की तरह दिखाता है, ब्रेख़्त ने एक नए क़िस्म के नाटक का निर्माण किया जो बुर्जुआ नाटक के वैचारिक आधारों की आलोचना से उत्पन्न हुआ. इस आलोचना के केंद्र में ब्रेख़्त का प्रसिद्ध 'अलगाव का सिद्धांत' है. ब्रेख़्त तर्क देते हैं कि बुर्जुआ नाटक 'विभ्रमवाद' पर आधारित है. वह इस अवधारणा को मान लेता है कि किसी नाट्य प्रदर्शन को, दिये गये विश्व को, पुनर्सृजित करना चाहिए. उसका लक्ष्य है कि यथार्थ के इस भ्रम के द्वारा दर्शकों को आकर्षित किया जाए और नाटक के प्रति

Print to PDF without this message by purchasing novaPDF (http://www.novapdf.com/)

उनमें सहानुभूति जगाई जाए जिससे कि वे उसे वास्तविक मानें और उससे प्रसन्नता हासिल करें. बुर्जुआ नाटक में दर्शक एक बनी बनाई चीज़ का निष्क्रिय उपभोक्ता होता है जो उसे अपरिवर्तनकारी कलात्मक वस्तु के रूप में 'यथार्थ' की तरह प्रस्तुत की जाती है. नाटक उन्हें इस बात के लिए उद्वेलित नहीं करता कि वे रचनात्मक रूप से सोचें कि नाटक के चरित्रों और घटनाओं को किस तरह से प्रस्तुत किया गया है और कैसे वे भिन्न हो सकते हैं. क्योंकि ये नाटकीय भ्रम एक संपूर्णता की तरह प्रस्तुत किया जाता है, वह इस बात को छुपा लेता है कि नाटक की रचना की गई है और इस तरह दर्शक को नाटक की वैचारिक आलोचना से रोक देता है, उसके प्रस्तुतिकरण के तरीकों और प्रस्तुत की जा रही घटनाओं के बारे में सोचने से रोक देता है.

ब्रेख़्त ने इस बात को समझा कि ये सौंदर्यबोध इस विचारधारा पर आधारित है कि दुनिया एक दी हुई दुनिया है जिसे बदला नहीं जा सकता और नाटक का काम उसमें जकड़े हुए मनुष्य को पलायनवादी मनोरंजन प्रदान करना है. इसके विरुद्ध ब्रेख़्त ये तर्क सामने रखते हैं कि यथार्थ एक बदलती हुई असतत् प्रक्रिया है जो मनुष्य द्वारा निर्मित है और उसके द्वारा बदली भी जा सकती है. नाटक का काम दिए हुए यथार्थ को सिर्फ़ प्रतिबिंबित करना नहीं है बल्कि ये बताना है कि उसके चरित्र और घटनाएँ ऐतिहासिक रूप से कैसे निर्मित हुए, कैसे वे भिन्न हो सकते थे, और आज भी उन्हें कैसे बदला जा सकता है. नाटक इस तरह उत्पादन की प्रक्रिया का मॉडल बन जाता है वह यथार्थ का प्रतिबिंब नहीं बल्कि यथार्थ पर एक टिप्पणी बन जाता है. अब वह एक संपूर्णता की तरह प्रस्तुत नहीं होता जिसमें शुरू से लेकर आख़िर तक सभी घटनाएँ पहले से ही निर्धारित हैं. बल्कि अब वह एक असतत्, खुले, अंतर्विरोधी परिदृश्य की तरह प्रस्तुत होता है और दर्शकों को इस बात के लिए प्रोत्साहित करता है कि वे उन जटिलताओं को देखें और उनमें से उभर रही परस्पर विरोधी संभावनाओं पर विचार करें. अभिनेताओं को निर्देश दिया जाता है कि वे चरित्रों से दूरी बनाए रखें, उनकी तरह के न हो जाएँ क्योंकि वे असल में अभिनेता हैं, नाटक के वास्तविक चरित्र नहीं हैं. वे नाटक के पात्र को प्रदर्शित करते हैं (और प्रदर्शित करते हुए दिखते हैं) इसके बदले कि वे पात्र जैसे हो जाएँ. ब्रेख़्त के नाटक में कलाकार अपने संवाद को 'पढ़ता है' और प्रदर्शन के दौरान उस संवाद की वैचारिक आलोचना संप्रेषित करता है. वो ऐसे संकेतों का प्रयोग करता है जो पात्रों के बीच के सामाजिक संबंधों को प्रदर्शित करते हैं और उन ऐतिहासिक कारणों को भी, जिनके कारण पात्र नाटक में दिखाया जा रहा व्यवहार कर रहे होते हैं. वह आगे आने वाली घटनाओं और संवादों के बारे में अनभिज्ञता प्रगट नहीं करते क्योंकि ब्रेख्त इस सूत्र में विश्वास करते हैं कि 'महत्त्वपूर्ण उतना ही महत्वपूर्ण होता है जितना कि वह बन सकता है'. नाटक स्वयं एक सुसंगठित इकाई बनने से बचता है जो दर्शकों पर शुरू से लेकर आख़िर तक एक जादू जैसा कर दे. इसके बरक्स वह ऊबड़-खाबड़, असतत् रुक-रुक कर चलने वाला और अपने दृश्यों के बीच अंतर्विरोध रखने वाला कृत्य होता है जो दर्शकों की पारंपरिक अपेक्षाओं पर खरा उतरने के बदले उन्हें आलोचनात्मक विचारों की तरफ़ प्रवृत्त करता है और दृश्यों के बीच द्वंद्वात्मक संबंध खोजने पर मजबूर करता है. नाटक की सुगठित एकता भिन्न-भिन्न कलारूपों के प्रयोग के द्वारा भी तोड़ी जाती है जैसे फ़िल्म, नाटक की पृष्ठभूमि में प्रोजेक्शन तथा दृश्य संयोजन द्वारा, जो एक दूसरे में समाहित होने से इंकार करते हैं और क्रियाओं से समन्वित होने के बदले उनके आर-पार जाते नज़र आते हैं. इस तरह से दर्शक भी कई विरोधी प्रकृति के प्रस्तुतिकरणों में से चुनने की एकाधिक विधियों को समझने के लिए बाध्य हो जाते हैं. अलगाव की इस विधि का परिणाम असल में दर्शकों को नाटक से अलगाने का ही होता है, जो उन्हें नाटक से भावनात्मक रूप से जुड़ने से रोकता भी है. अगर वे वैसा करते तो आलोचनात्मक मूल्य निर्धारण की उनकी शक्ति को लकवा मार जाता.

अलगाव का ये प्रभाव चिरपरिचित अनुभवों को अपरिचित रोशनी में दिखाता है और इस तरह दर्शकों पर प्रभाव बनाता है कि वे दिखाए जा रहे दृष्टिकोणों और व्यवहारों पर सवाल खड़े करें जिन्हें अब तक वह सामान्य मानता आया था. ये बुर्जुआ नाटक से उलट प्रक्रिया है जो अपरिचित घटनाओं को सामान्यीकृत करता है और उन्हें दर्शकों के सामने इस तरह परोसता है कि वे अविचलित रहें. जहाँ तक दर्शकों द्वारा नाट्य प्रदर्शन और इसमें दिखाई गई गतिविधियों पर निर्णय

Print to PDF without this message by purchasing novaPDF (http://www.novapdf.com/)

का सवाल है वे खुलेपन के इस खेल में विशेषज्ञ एवं सहयोगी बन जाते हैं, इसके बदले कि वे बने हुए उत्पाद के उपभोक्ता बनें. नाटक के संवाद कभी भी संपूर्ण नहीं होते. ब्रेख़्त उनका दर्शकों की प्रतिक्रिया के अनुसार पुनर्लेखन किया करते थे. और दूसरों को भी इस प्रक्रिया में भाग लेने के लिए प्रोत्साहित करते थे. नाटक इस तरह एक प्रयोग बन जाता है जो प्रदर्शन के प्रभावों से फीडबैक प्राप्त करते हुए अपनी अवधारणाओं को बार-बार जांचता है. वह अपने आप में अधूरा है और सिर्फ़ दर्शकों के आस्वादन में ही पूरा होता है. नाटक इस तरह फंतासी पैदा करने वाली जगह नहीं रह जाता बल्कि वह एक प्रयोगशाला, सर्कस, संगीतकक्ष, खेल के मैदान एवं जनसंवाद कक्ष का मिला जुला रूप बन जाता है. यह एक वैज्ञानिक युग के लिए उपयुक्त वैज्ञानिक नाटक है. ब्रेख़्त ने इसमें दर्शकों की भागीदारी पर बहुत ज़ोर दिया. वे चाहते थे कि दर्शक नाटक का मजा लें और संपूर्ण ऐन्द्रिकता तथा हास्य बोध के साथ उसमें शामिल हों (उन्हें धुंआ छोड़ते दर्शक अच्छे लगते थे क्योंकि वह एक तरह की आरामदायक भंगिमा को इंगित करता था) दर्शकों को गतिविधियों से ऊपर जाकर सोचना था, नाटक को ग़ैर आलोचनात्मक रूप से स्वीकार नहीं करना था और फिर भी भावनाओं को भी ख़ारिज नहीं किया जाना था. 'उन्हें भावनाओं के बारे में सोचना था और सोचते हुए महसूस करना था'.

-टेरी इगल्टन

इतिहास की समाप्ति की घोषणा, किसी भी साफ वैचारिक आकाश की उपस्थिति से ही इनकार और इस तरह बदलाव की किसी संभावना से भी इनकार, उत्तर आधुनिकता के प्रमुख आधार हैं. उत्तर आधुनिकता प्रगतिशीलता के विचार को ही खारिज करती दिखती है और आधुनिकता द्वारा हासिल किये गये 'सर्वोत्तम' का भी बहुत सम्मान नहीं करती. इस तरह कलाओं के उद्‌भव और परंपरा से वह अपने आपको अलग कर लेना चाहती है. वह गैर राजनीतिक होने का भ्रम पैदा करती है और इस तरह उत्तर पूंजीवाद का सांस्कृतिक तर्क बन जाती है. इसे समझने के लिये हमें एक नये ज्ञानात्मक मानचित्र की ज़रूरत है.

उत्तर आधुनिकता के संदर्भ में नये ज्ञानात्मक मानचित्र की ज़रूरत

ज्ञानात्मक मानचित्रण के सौन्दर्यबोध को, जो व्यक्ति को सीखने-समझने का एक ऐसा राजनैतिक संस्कार देता है जिससे वो नई वैश्विक व्यवस्था में नई अनुभूति के साथ अपना स्थान तय कर सके, कहीं अधिक कठिन रिप्रेसेण्टेशनल डॉयलेक्टिक से जूझना होगा और ऐसे क्रांतिकारी नये कला रूपों की पहचान करनी होगी जो इस काम के साथ न्याय कर सकें. ये किसी पुरानी तरह की मशीन की तरफ़ लौटने का आह्वान नहीं है, न ही ये किसी पुराने और ज़्यादा पारदर्शी राष्ट्रीय आकाश की तरफ़ लौटना है या किसी ऐसे पारम्परिक और अधिक हौसला बढ़ाने वाले परिप्रेक्ष्य अनुकरणीय अंतःक्षेत्र की तरफ़ लौटना है, नई राजनैतिक कलाओं को - अगर ऐसा करना संभव हुआ तो - उत्तर आधुनिकता के रूप से जूझना पड़ेगा, उसके मूलभूत आधार को समझना होगा- बहुराष्ट्रीय पूँजी के वैश्विक आकाश को समझना होगा- और फिर भी इसे रिप्रेसेण्ट करने की ऐसी नई ज़मीन तोड़नी होगी जिसमें हम व्यक्ति के रूप में और समूह के रूप में अपने स्थान की भी पहचान कर सकें और काम करने और संघर्ष करने की अपनी क्षमता को पुनः प्राप्त कर सकें. यह फ़िलहाल हमारे आकाशीय और सामाजिक भ्रमों के कारण समाप्त सी हो गई है. उत्तर आधुनिकतावाद का राजनैतिक स्वरूप अगर ऐसा कुछ है, तो समाज आकाशीय स्तर पर एक नई तरह के ज्ञानात्मक मानचित्रण की खोज करेगा.

- फ्रेडरिक जेम्सन

हमारा प्रयास कुछ इसी तरह का है. इस अंक में कमलेश दत्त त्रिपाठी पारंपरिक भारतीय रंगमंचीय रूपों का उत्तर आधुनिकता के संदर्भ में आकलन कर रहे हैं. रामप्रकाश त्रिपाठी द्वारा शांतिवर्धन तथा रंगश्री लिटिल बैले ट्रूप पर की गई टिप्पणी और राजीव वर्मा तथा संजय उपाध्याय के साक्षात्कारों एवं रंग यात्रा को भी इसी संदर्भ में देखा जाना चाहिये.

फिल्मों में प्रेम के अद्‌भुत चितेरे यश चोपड़ा को भी रंग संवाद के इस अंक में याद किया गया है.

आपके पत्र का, सदा की तरह, हमें इंतज़ार रहेगा.

• संतोष चौबे

Print to PDF without this message by purchasing novaPDF (http://www.novapdf.com/)

पारम्परिक भारतीय रंगमंच

पारंपरिक भारतीय रंगमंच को जिस तरह की चुनौती 'आधुनिक' पश्चिमी और भारतीय रंगमंच से मिली, उससे भी अधिक गंभीर चुनौती 'उत्तर-आधुनिक' रंगमंच और अन्य मंचीय प्रयोगधर्मी- कलाओं से मिल रही है। पारंपरिक भारतीय कलाओं को अपने समय से संबंध बनाते हुये बदलते जाने की एक अलग प्रक्रिया रही है, किन्तु 'उत्तर-आधुनिकता' का समकालीन प्रवेश अधिक आक्रामक होने के कारण उनके लिये अधिक गंभीर चुनौती बन रहा है।

उत्तर-आधुनिक मंच-प्रयोग की चुनौती

कमलेशदत्त त्रिपाठी

समकालीन भारतीय रंगमंच के दृश्य-पटल पर शहरों में विद्यमान आधुनिक रंगमंच तथा छोटे कस्बों, गाँवों और वनों में परंपरागत रूप से चले आ रहे लोक-रंगमंच की विभिन्न शैलियों के साथ केरल की 'कुडियाट्टम' के नाम से विख्यात संस्कृत रंगमंच की शैली की अबाध धारा समानांतर रूप से चलती दिखाई देती है। जिस तरह पश्चिम के साथ अठारहवीं शताब्दी के अंत में संपर्क होने के बाद हमारा शहरी आधुनिक रंगमंच पश्चिमी प्रभाव से 'प्रोसीनियम थियेटर' के रूप में विकसित होता है और चालीस के दशक तक हमारी अपनी परंपरा से अनजान बना रहता है, बाद में अपनी 'निजता' अथवा 'अस्मिता' की खोज में उधर वापस मुड़ता है। हमारे अपने ही आधुनिक रंगमंच से हमारे अपने पारंपरिक रंगमंच को पहले उपेक्षा और बाद में एक चुनौती मिली। इसमें उपयोगी तत्वों को सुविधा और आवश्यकता के अनुसार अपनी सृजनशीलता और अस्मिता की रक्षा के लिये आत्मसात करने का लगभग दंभपूर्ण रवैया प्रकट होता है। वैसा ही रवैया जो पश्चिमी संस्कृति में अपनी श्रेष्ठता और अपरिहार्य विजय की मान्यता और इसीलिये रचनाशीलता, वैविध्य और 'कॉमोडिटी' को नित नये रूप देने के लिये अपेक्षित 'फैशन' की खोज में 'तीसरे विश्व' या 'अविकसित विश्व' से अनुकूल सांस्कृतिक तत्वों को अजीबोगरीब ढंग से आत्मसात कर लेने के दावे में दिखाई पड़ता है।

इस तरह तीसरे विश्व की संस्कृतियों से लिये गये तत्वों के बाद शेष तत्व पश्चिमी संस्कृति के लिये अर्थहीन हैं और इसलिये अपनी स्वाभाविक मौत मर जाने के लिये अपने हाल पर छोड़ दिये जाते हैं पारंपरिक रंगमंच के लिये हमारे महानगरीय रंगमंच के एक ख़ास हिस्से का कुछ वैसा ही रवैया दिखाई पड़ता है। इसी अर्थ में आधुनिक रंगमंच पारंपरिक भारतीय रंगमंच के लिये चुनौती बनता है। बजाय इसके कि

Print to PDF without this message by purchasing novaPDF (http://www.novapdf.com/)

हम सारी दुनिया के रंगमंच से अपने रंगमंच की समृद्धि के लिये रिश्ता बनाते, हुआ यह है कि पश्चिम के रंगमंच के एक ख़ास संस्करण को अपना रंगमंच मानकर उसी की शर्त पर हम अपने पारंपरिक रंगमंच से रिश्ता बनाने की कोशिश-सी करते आये हैं।

'पोस्ट-मॉडर्निटी' इस अर्थ में उत्तर-आधुनिकता है कि वह आधुनिकता की कोख से ही पैदा होती है। अतः आधुनिकता की उत्तरवर्ती स्थिति है। इस रूप में वह आधुनिकता के समान भी है और उससे भिन्न भी। 'पोस्ट-मॉडर्निटी' कालक्रम में बिलकुल भिन्न स्थिति के रूप में आधुनिकोत्तरता ही कही जायेगी। फिलहाल शब्दावली के इस जाल में न पड़कर मैं 'पोस्ट-मॉडर्निटी' के लिये अब तक लगभग स्वीकृत हो चले शब्द 'उत्तर-आधुनिकता' का इस लेख में प्रयोग करूँगा। उत्तर-आधुनिकता से संबद्ध अन्य अवधारणाओं में भी उसी भाँति 'उत्तर' शब्द का 'पूर्व सर्ग' की तरह प्रयोग करना होगा ताकि प्रचलित शब्दावली के स्वीकार से अर्थ-संप्रेषण की सहजता बनी रहे।

अस्तु, पारंपरिक भारतीय रंगमंच को जिस तरह की चुनौती 'आधुनिक' पश्चिमी और भारतीय रंगमंच से मिली, उससे भी अधिक गंभीर चुनौती 'उत्तर-आधुनिक' रंगमंच और अन्य मंचीय प्रयोगधर्मी-कलाओं से मिल रही है। पारंपरिक भारतीय कलाओं को अपने समय से संबंध बनाते हुये बदलते जाने की एक अलग प्रक्रिया रही है, किन्तु 'उत्तर-आधुनिकता' का समकालीन प्रवेश अधिक आक्रामक होने के कारण उनके लिये अधिक गंभीर चुनौती बन रहा है। हम उत्तर-आधुनिक मंच-प्रयोगधर्मी कलाओं पर ही केन्द्रित रहते हुये यह विचार आगे बढ़ायें।

उत्तर-आधुनिक अभिलक्षण सांस्कृतिक जीवन के ऐसे पक्षों में भी परिव्याप्त दीख पड़ते हैं, जिनकी अपनी कोई संतोषजनक पूर्ववर्ती 'आधुनिकता' का अस्तित्व नहीं दीखता, जैसे फिल्म, टेलीविज़न और रॉक संगीत। इसमें भी एक ख़ास बात है, टीवी और रॉक संगीत में आंतरिक इतिहास के सुस्पष्ट आधुनिकता के लक्षण नहीं हैं, किन्तु कुछ ऐसे कलारूप हैं, जिनके पूर्ववर्ती युग से उत्तर-आधुनिक युग के रैखिक विच्छेद को दिखलाया जा सकता है, जैसे उत्तर आधुनिक साहित्य। इसके अतिरिक्त रॉक संगीत या टी.वी. भूमंडलीय इलेक्ट्रॉनिक संस्कृति के समकालीन विश्व से इस रूप में जुड़े हुये हैं कि वे इसी तथ्य के कारण उन कला-रूपों से अधिक उत्तर-आधुनिक दीख पड़ने की कोशिश में होते हैं, जिन कलारूपों के पीछे आधुनिकता की छाया स्पष्ट रूप से पीछे आती दीखती है। पश्चिमी नाटक एक ऐसा कलारूप है, जो 'इतिहास-रहित उत्तर-आधुनिकता' और 'आधुनिकता से उद्भूत उत्तर-आधुनिकता' के कहीं बीच में खड़ा है।

यह सच है कि बीसवीं सदी के पश्चिमी नाटक का, विशेषतः यूरोपीय नाटक का अपना इतिहास है, जिसमें जर्मन 'एक्सप्रेसिनिज्म', 'दादाइज्म', 'फ्यूचरिस्ट परफॉर्मेंस' और यीस्ट जैसे लोगों के कार्य और बाद में आर्तो तथा ब्रेश्ट के कार्य समाहित हैं, फिर भी नाटक के इतिहास के लेखक दूसरे कलारूपों की अपेक्षा नाटक में आधुनिकतावादी आंदोलन के दावे के बारे में स्टेवेन कोन्नोर कुछ इसी तरह की बात कहते हैं। नाटक में विलंबित आधुनिकता का कारण यह हो सकता है, क्योंकि वह रूपगत नये प्रयोगों का उन कलारूपों की अपेक्षा, जो व्यावसायिक संरचना तथा वाणिज्यिक स्थितियों पर अधिकाधिक निर्भर होते हैं, अधिक ही प्रतिरोध करते हैं। ब्रेख्त के आने और 1950 के दशक में 'विसंगति के रंगमंच' के शक्तिशाली होने के कारण ही नाटक की आधुनिकता भी बलवती हो जाती है। पश्चिम के नाटक की आधुनिकता भी बलवती हो जाती है। पश्चिम के नाटक की आधुनिकता के सुसंगत और सर्वानुमत इतिहास के अभाव का एक परिणाम यह

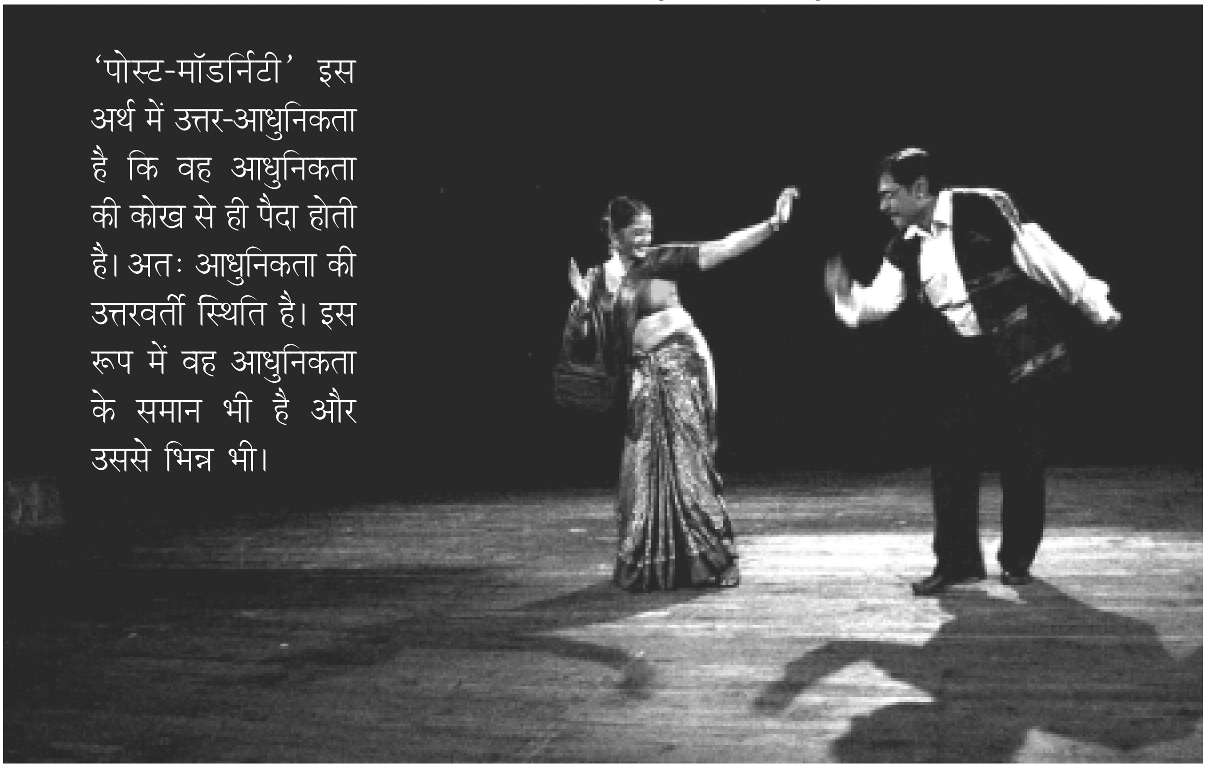

'पोस्ट-मॉडर्निटी' इस अर्थ में उत्तर-आधुनिकता है कि वह आधुनिकता की कोख से ही पैदा होती है। अतः आधुनिकता की उत्तरवर्ती स्थिति है। इस रूप में वह आधुनिकता के समान भी है और उससे भिन्न भी।

Print to PDF without this message by purchasing novaPDF (http://www.novapdf.com/)

सवाल खिड़कियों को बंद करने का नहीं, बंद होती खिड़कियों को खोलने का है। एक सर्वग्रासी चुनौती के आगे आत्मसमर्पण और हार भी हो सकती है, किन्तु रक्षा की संभावना अभी खत्म नहीं हुई है।

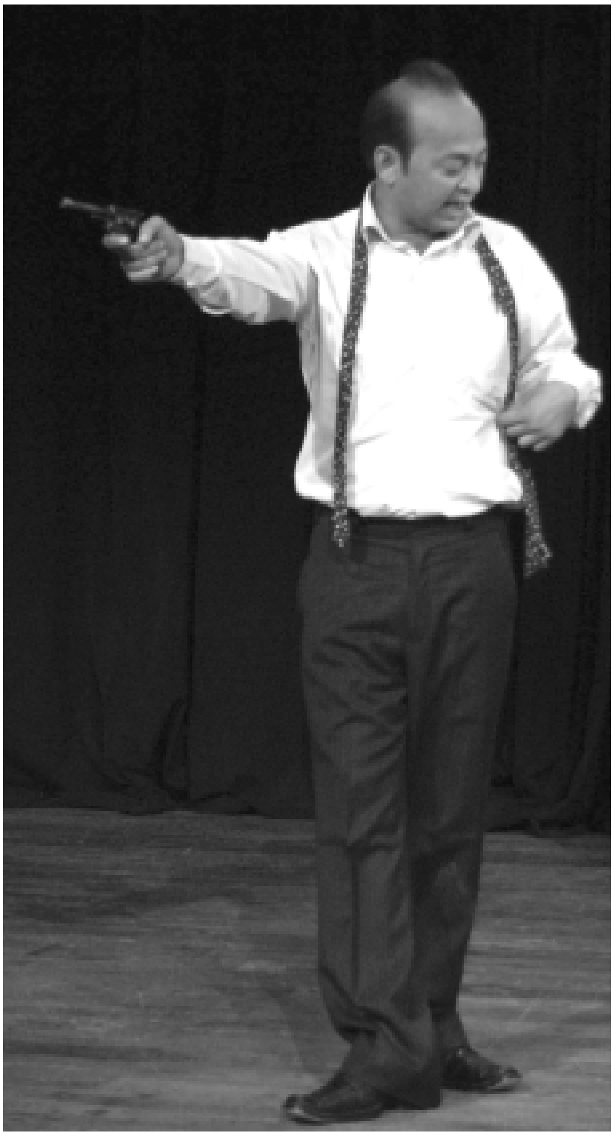

हुआ कि उसे संस्कृति के अन्य क्षेत्रों में आकार ग्रहण कर चुकी 'उत्तर-आधुनिकता' से अपने लिये स्फूर्ति ग्रहण करनी पड़ी। यह महत्वपूर्ण है, तब रंगमंचीयता 'उत्तर-आधुनिकता' की बहस की अत्यंत महत्वपूर्ण चिन्ताओं से जुड़ गई। इस चिन्ता का प्रथम बिन्दु 'टेक्स्ट' और 'परफॉर्मेंस' के बीच का संबंध है।

रंगमंचीय कृति 'कृति' और 'प्रक्रिया' के बीच के तनाव का उदाहरण होती है, क्योंकि नाट्यकृति न तो नाट्यालेख में अपने समूचे रूप में स्थित होती है और न ही उस नाट्यालेख की किसी एक विशिष्ट रंगप्रस्तुति में ही। नाट्यकृति मंच प्रस्तुति के बिना लिखा हुआ या छुपा हुआ शब्दमात्र है। उसका मूर्त होना आवश्यक है। इसी तरह मंच-प्रयोग किसी अवधारित आलेख को अवश्य संदर्भित करता है। यह बात किसी प्रकट आलेख के बिना ही किये गये 'इंप्रोवाईज्ड' मंच प्रयोग पर भी लागू होती है। इस अर्थ में रंगमंचीय कलारूप 'उत्तर-आधुनिकता' के बहस के दौर में बहुत-से प्रश्नों को समेट लेते हैं। इस प्रसंग में 'एसेन्सल फॉर्म' की अवधारणा के निषेध, कलाकृति की 'आइडेन्टिटी' को विच्छिन्न करने और सामाजिक, राजनैतिक अर्थों में इसे निमज्जित करने के प्रश्न विशेष रूप से उठते हैं। उत्तर-आधुनिकता के सिद्धांतकार, रंगमंचीयता (थियेट्रिकेलिटी) को परिभाषित करते हुये उसे 'वर्क इन इटसेल्फ' न मानकर 'वर्क इन प्रॉसेस' के रूप में स्वीकार करते हैं। जर्मन आलोचक हान्स जॉर्ज गदमेर 'टेक्स्ट' से मंच प्रस्तुति के रूप में संक्रमण की प्रक्रिया को रेखांकित करते हैं और यह कहते हैं कि मंच प्रस्तुति होना नाट्य-कृति के काल में आवश्यक विस्तार की गारंटी है। फलतः मंच-प्रयोग आकस्मिक, अतिरिक्त और आनुषंगिक नहीं है, जिसे मुख्य नाट्य से विलग किया जा सके। नाटक (प्ले प्रॉपर) तभी नाट्य है, जब उसे 'परफॉर्म' किया जाये। 'प्रयोग' नाटक को सत्ता प्रदान करता है। इस प्रकार उत्तर-आधुनिक रंगमंच में प्रयोग की संभावनाओं पर अत्यधिक बल दिया गया है।

मंच प्रयोग पर यह बल रंगकर्म को 'टेक्स्ट' या नाट्यालेख से मुक्त करने के आंदोलन के रूप में परिणित होता है, क्योंकि नाट्यालेख उसी प्रयोग को बार-बार दोहराने का आधार बन जाता है और प्रयोग स्वतः स्फूर्तता को जकड़ देने की कीमत पर ऐसा करता है। मंच-प्रयोग की इस मुख्य स्थिति को 'अस्थायी सौन्दर्यशास्त्र' का नाम दिया गया है, जिसके अनुसार स्मृति और पुनरावृत्ति जैसे बुर्जुआ दमनात्मक वैशिष्ट्य के स्थान पर 'इमीडियेसी' तथा 'यूनीकनेस' जैसे वैशिष्ट्यों का अधिक महत्व है। यह सारी बहस 'प्रयोक्ता' की स्वायत्तता और 'नाटककार के प्राथम्य' के बीच के तनाव को प्रकट करती है।

आर्तो की दृष्टि में रंगमंच लिखित भाषा से आक्रांत उपनिवेश है, उसको अपने को 'टेक्स्ट की सत्ता' से मुक्त कर प्रकाश, गति, रंग, मुद्रा और 'स्पेस' की भाषा में बोलना-सीखना चाहिये। यद्यपि आर्तो 'लोकप्रिय आद्यरंगमंच' की ओर लौटने की प्रत्याशा करता है, जिसे भाषा के द्वारा पैदा किये गये विकार के बिना समझा जा सके! तथापि इसका यह अर्थ नहीं है कि वह भाषा को रंगमंच से सर्वथा निर्वासित करना चाहता है। वह चाहता है कि विशुद्ध ध्वनि को प्रयोग में उसका उचित स्थान मिले। आर्तो के लिये मंच पर स्थित चरित्र और घटनायें अपने से बाह्यवर्ती की ओर इंगित नहीं करते और दर्शक के ध्यान को नाटक के अनुभव में निमज्जित होने से नहीं हटाते। उसकी दृष्टि में हम जितना भी चाहें, नाटक के सघन परिदृश्य और उसके परिरुद्ध-विश्व से दर्शक के बाहर रहने की कल्पना भी नहीं की जा सकती।

इस दृष्टि से कुछ स्पष्ट समानताएँ होने पर भी आर्तो, ब्रेख्त से ठीक विपरीत ध्रुव पर खड़ा है। ब्रेख्त की अभिरुचि भी उस रंगमंच में नहीं है, जो यथार्थ को महज प्रतिबिम्बित या 'अनुप्रस्तुत' करता है,

Print to PDF without this message by purchasing novaPDF (http://www.novapdf.com/)

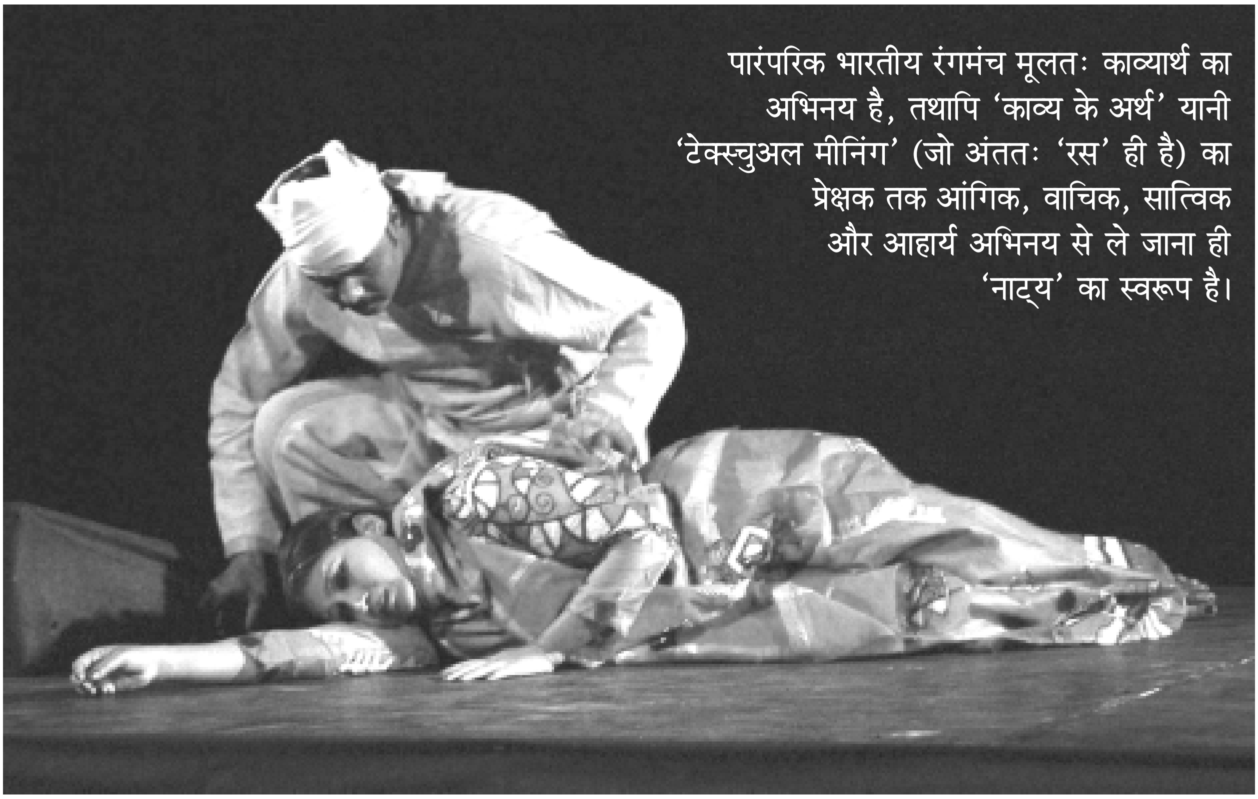

और ऐसी ही अवधारणा की ओर उसकी भी दृष्टि है, जो रंगमंच के रूप में ही स्वीकृत करती है, तथापि सैद्धांतिक रूप से ब्रेश्ट की माँग है कि अभिनेता और दर्शक 'मंच प्रयोग' की ऐन्द्रिय 'इमीडिएसी' (अभिनव गुप्त की शब्दावली में 'साक्षात्कार कल्पना' में डूब न जाये और एक पृथक्करण (एलिऐनेशन) के लक्ष्य के साथ नाटक का प्रयोग और ग्रहण किया जाये। ब्रेख्त के रंगमंच में दर्शक और अभिनेता के डूबने के स्थान पर प्रयोग से जिस 'पृथक्करण' (एलिऐनेशन) का आश्रय लिया गया है, उसका उद्देश्य दर्शक को सामाजिक यथार्थ के पैने साक्षात्कार के साथ उसकी आलोचना का अवसर देना है, ताकि अंततः उसे अभीष्ट परिवर्तन की दिशा मिल सके।

इस बिन्दु पर ब्रेख्त से सैद्धांतिक मतभेद होना एक बात है, किन्तु 'टेक्स्ट' के प्रति आर्तो के विशिष्ट दृष्टिकोण का 'उत्तर-आधुनिक' रंगकर्म का सार तत्व बन जाना दूसरी बात है। आर्तो का विशुद्ध रंगमंचीयता का आग्रह भी है, जिसकी प्रशंसा फ्रेड 'विगलनशीलता' के रूप में करता है। फ्रेड और ग्रीनबर्ग कला के कला से इतर तत्व द्वारा प्रदूषित होने की शिकायत करते हैं तो आर्तो रंगमंच से बाह्यवर्ती तत्वों के द्वारा प्रदूषित होने की शिकायत करते हैं। पुनर्जागरण के बाद का योरोपीय रंगमंच क्रमशः अधिकाधिक 'भाषाकेन्द्रित' होता जाता है, किसी 'सीमियाटिक्स' के अभाव में 'टेक्स्ट' की केन्द्रीयता और प्राधान्य की ओर बढ़ता जाता है। 'नाटक' और 'आप' का विभेद भी इस अंतराल को और बढ़ा देता है। अतः 'टेक्स्ट' और 'परफार्मेन्स' का तनाव उत्तर-आधुनिक रंगमंच का प्रमुख बिन्दु बन जाता है।

इसके विपरीत यद्यपि पारंपरिक भारतीय रंगमंच मूलतः काव्यार्थ का अभिनय है, तथापि 'काव्य के अर्थ' अर्थात् 'टेक्स्चुअल मीनिंग' (जो अंततः 'रस' ही है) का प्रेक्षक तक आंगिक, वाचिक, सात्विक और आहार्य अभिनय से ले जाना ही 'नाट्य' का स्वरूप है। अतः कला की प्रक्रिया की दृष्टि से और प्रयोक्ता की ओर से देखने पर 'नाट्य' 'काव्यार्थ' का 'भाव के अनुकीर्तन' द्वारा 'अभिनयन' है और प्रेक्षक की ओर से 'रस' का अनुभव है, किन्तु कवि से प्रयोक्ता तथा प्रयोक्ता से सहृदय दर्शक पर आश्रित दृष्टि ने 'टेक्स्ट' और 'परफार्मेंस' के तनाव का समाधान एक संतुलन के रूप में पा लिया। 'न्यूनतम टेक्स्ट' के साथ अतिविस्तृत प्रयोग भी केरल की प्रयोगशैली में 'परफार्मेन्स' के महत्व का स्वीकार है, यद्यपि इस शैली की कटु समीक्षा 16वीं शती में ही 'नटांकुश' में की गई। अतः 'टेक्स्ट' के पक्षधर 16वीं शती में भी थे ही।

दूसरी ओर परवर्ती परंपरा में आलेख के अभाव में भी मौखिक रूप से प्राप्त 'टेक्स्ट' 'प्रयोग' आधारित था। इसके अतिरिक्त एक अत्यंत विकसित 'सीमिआटिक्स' और आंगिक भाषा शब्द के प्राधान्य के साथ सतत संतुलन बनाती चली आई, जिसके अगणित रूप सारे देश में आज भी प्राप्त हैं। क्या हमारे रंगमंच में इस प्रश्न पर समाधान के जो संकेत हैं, वह उत्तर-आधुनिकता की सारी बहस के सामने विस्मृत कर देने की चीज़ हैं? अतः 'टेक्स्ट' के अस्वीकार का प्रश्न हमारे संदर्भ मे उतना तीव्र नहीं हो सकता।

जाक देरिदा ने 1968 में 'द थियेटर ऑफ क्रुएलिटी एण्ड द क्लोजर ऑफ रिप्रेजेन्टेशन' शीर्षक से तथा एक अन्य लेख 'ला पेरोल सोफ्लालिए' शीर्षक से लिखा, जिसमें आर्तो के कार्य की व्याख्या है, किन्तु उसकी परिणति आर्तो की मान्यता में निहित अन्तर्विरोध को प्रदर्शित करने में होती है। देरिदा आर्तो के कार्यों को

Print to PDF without this message by purchasing novaPDF (http://www.novapdf.com/)

रंगमंच की यह अवधारणा पारंपरिक भारतीय रंगदृष्टि के लिये एक गहरी और अर्थभरी चुनौती है। पारंपरिक रंगदृष्टि 'आंगिक संकेत' की भाषा की अनंत संभावनाओं के द्वारा 'टेक्स्ट' के अपरिसमाप्य अर्थों का सतत अन्वेषण है, जो अंततः 'रस' पर टिकता है।

'लोगोसेन्ट्रिज्म' अर्थात् विचार के भाषा में पूरी तरह और निर्दोष रूप में मूर्त होने की संभावना के विरुद्ध घोर संघर्ष के रूप में देखते हैं। 'लोगोसेन्ट्रिज्म' के साथ 'पुनरावृत्ति की संरचना' भी अविभाज्य रूप से जुड़ी है, अतः मंच स्वपूर्ण और आधारभूत शब्द की परिशिष्टात्मक छाया के रूप में काम करता है। आर्तो का 'थियेटर ऑफ क्रुएलिटी' मंच के इस दोयम दर्जे और दुहराव की भूमिका की अस्वीकृति है, किन्तु देरिदा का निबंध आर्तो के 'थियेटर ऑफ क्रुएलिटी' को असंभव बतलाता है। मंच-प्रयोग का व्यापार चाहे जितनी स्फूर्ति से सम्पन्न हो और पूर्व शर्तों से मुक्त हो, उसे सर्वदा (कुछ सीमा तक) आवृत्ति और अनुप्रस्तुति (रिप्रेजेन्टेशन) से आवेष्टित होना ही पड़ेगा, क्योंकि आख़िरकार वह 'रंगमंच' है।

'उत्तर-आधुनिकता' के पुरोधा ज्यां फ्रांसुआ ल्योतार ने भी आर्तो पर एक लेख लिखा है, जिसमें वह विशुद्ध और आकारहीन ऊर्जा के रंगमंच की प्रतीक्षा करता दीखता है, जिसकी विशेषता 'नृत्य, संगीत, अनुकृति, भाषा, मौसम, काल, जनता और 'नथिंगनेस' की अन्विति मात्र न होकर ध्वनि-नाद, शब्द, देहाकार और बिम्बों का स्वातंत्र्य और इसकी युगपत्ता होगी। समकालीन 'उत्तर-आधुनिक' रंगमंच की ओर विशेष रूप से फ्रांसीसी रंगमंच की यह सामान्यतः स्वीकृत 'थीम' रही है। इसीलिए जोस्से फेराल ने 'नैरेटिव' के अस्वीकार और प्रभावी रूप से रंगमंच के प्रतीकात्मक संगठन को 'उत्तर-आधुनिक' रंगमंच का असल रूप माना है। अतः रंगमंच की सत्ता 'स्थिति के सतत स्थानांतरण' में होनी चाहिए और दर्शक को 'प्रवाह, संजाल और तंत्र (फ्लोज, नेटवर्क एंड सिस्टम्स) के अतिरिक्त और कुछ भी ग्रहण करने को नहीं देना चाहिए। इसी प्रकार रेगिट डुरंड उस रंगमंच की बात करते हैं, जिसमें 'नैरेटिव' के आवेग, संगति तथा संगठन की शक्ति नहीं है, अपितु आरोपण, 'लेवलिंग', 'ट्रेकिंग', 'उद्धरण', 'आवृत्ति', 'ट्रेसिंग', 'इरेजिंग', 'डबलिंग', अनुवाद और स्थानांतरण मुख्य तत्व हैं। यही उसकी शक्ति है। अमेरिकी नाटककार रिचर्ड फोरमैन का 'आंटोलाजिकल हिस्टीरिक थियेटर' इसका उदाहरण है।

रिचर्ड फोरमेन की मंच प्रस्तुति में आँख और कान एक बिन्दु से दूसरे बिन्दु तक दौड़ते रहते हैं। उसके नाटक में दर्शक पर श्रव्य और दृश्य घटनाओं की बमवर्षा होती रहती है। चाक्षुष स्तर पर अंक के ज्यामितिक दृश्य में लगातार हेरफेर होता रहता है। 'सेट' के टुकड़े और 'फर्नीचर' का स्थान तीव्रगति से बदलता रहता है। यह या तो ज़्यादा गहराई पैदा करता है या गहराई अथवा ऊँचाई में एक पर एक स्तर बनते जाते हैं। मंद या तीव्र गति से प्रकाश-योजना का परिवर्तन मंच और प्रेक्षागृह को समान रूप से प्रभावित करते हैं। दर्शक आकस्मिक रूप से 'स्पॉटलाइटों' के घूमने से अप्रत्याशित रोशनी से नहा उठते हैं। जहाँ तक ध्वनि-प्रभाव का प्रश्न है, हर चीज़ 'रिकॉर्डेड' होती है, कार का हॉर्न, साइरन, सीटियाँ, जाज के टुकड़े और संवाद तक। आलेख छोटे-छोटे, असंबद्ध, सूचनात्मक वाक्यों से बनता है और टुकड़ों-टुकड़ों में बँटा होता है।

रंगमंच की यह अवधारणा पारंपरिक भारतीय रंगदृष्टि के लिये एक गहरी और अर्थभरी चुनौती है। पारंपरिक रंगदृष्टि 'आंगिक संकेत' की भाषा की अनंत संभावनाओं के द्वारा 'टेक्स्ट' के अपरिसमाप्य अर्थों का सतत अन्वेषण है, जो अंततः 'रस' पर टिकता है। वस्तुतः आंगिक, वाचिक, सात्विक अभिनय के संयोजन, उनके एक-एक करके किये गये सूक्ष्म विवरण, गायन, वादन और नृत्य के तत्वों का यथाअवसर चमत्कारपूर्ण विस्तार और प्रयोग में, आंगिक-प्रधान, वाचिक अथवा गान-प्रधान या आहार्य अथवा वेश-प्रधान, वाचिक अथवा गान-प्रधान या आहार्य अथवा वेश-प्रधान शैलियों के गुणन और मिश्रण से उपजी असंख्य शैलियाँ आँख और कान को प्रतिक्षण नये-नये अनुभव देकर भी उन्हें ठहरने देते हैं, ताकि अंततः एक 'विश्रांति' पाई जा सके। इस अर्थ में भी भारतीय पारंपरिक रंगकर्मी मूलतः भिन्न रंगकर्म और रंगानुभव है।

रोलां बार्थ रंगमंच को 'संकेत की सघनता के रूप में' परिभाषित करते हैं, पर वे पारंपरिक भारतीय या योरोपीय रंगमंच में भी किसी एक उद्देश्य के लिये मिल जाते हैं, किन्तु समकालीन 'उत्तर-आधुनिक' रंगमंच इस ऐक्याविधायिनी दृष्टि को छोड़ने की वकालत करता है। बर्नार्ड डार्ट कहता है- ''यदि मंचन संकेतों को सन्निविष्ट करना है, तो अभिनय का अर्थ उन संकेतों का विचालन और उन्हें देशकाल की सुपरिभाषित सीमाओं में गतिशील करना है। अतः रंगमंचीयता का अर्थ संकेतों का स्थानांतरण और प्रवाहशीलता है। उनमें ऐक्य की असंभाव्यता अंततः विमुक्त रंगमंच की दर्शकों के सम्मुख उनकी मुठभेड़ के रूप में उभरती है। यह सब कुछ उत्तर-आधुनिक रंगमंच की त्वरित गतिमयता का निदर्शन है।

उत्तर-आधुनिक रंगमंच की यह बेचैन गति पारंपरिक रंगमंच को सच्ची चुनौती है, पर क्या यह बेचैनी और अस्थिरता ही रंगमंच की

Print to PDF without this message by purchasing novaPDF (http://www.novapdf.com/)

एकमात्र दिशा है? हमारा समकालीन रंगमंच आज या कल उधर बढ़ना चाहेगा? आर्तो द्वारा 'टेक्स्ट' को और बर्नार्ड डार्ट द्वारा 'निर्देशक' को शत्रु और दमनकारी शक्ति घोषित किये जाने के साथ ही एक स्थिर रंगमंचीय अनुभव को भी चुनौती देने की यह 'उत्तर-आधुनिक' प्रक्रिया पारंपरिक रंगमंच के सामने खतरा बनेगी, किन्तु इस खतरे का सामना गहरी कलापरक दृष्टि से विचार कर एक वैकल्पिक रंगदृष्टि के रूप में पारंपरिक रंगमंच की शक्ति को पहचानने पर ही हो सकेगा।

रिचर्ड शेखनर एक कदम आगे बढ़कर इस प्रकार के प्रयोग के हिमायती हैं, जो रंगमंच और गैर-रंगमंच के बीच खड़ा है। उदाहरण के लिये न्यूयॉर्क के रंगसमूह 'स्क्वैड' की प्रस्तुति है, जो एक 'स्टोरबिल्डिंग' के भूतल पर सम्पन्न होती है। 'प्लेटग्रास विन्डो' के पार आते-जाते लोग नाटक के दृश्य में सन्निविष्ट देखे जा सकते हैं, यद्यपि उन्हें इसका आभास नहीं है कि वे इस प्रकार दृश्य में खींच लिये गये हैं। शेखनर का तर्क है कि आज समूची पश्चिमी संस्कृति में रंगमंचीयता की प्रवृत्ति प्रमुख हो गई है। उदाहरण के लिये 'टेलीविजन' का समाचार कार्यक्रम रंगमंचीय रूढ़ियों में बँधा प्रतीत होता है, चाहे वह इब्सनीय प्रकृतवादी रंगमंच या 'मेलोड्रामेटिक' सिनेमाई रूप में हो अथवा किसी 'बेराइटी शो' जैसा हो। इस प्रतिपादन के द्वारा शेखनर 'जीवन' और 'मंचप्रयोग' के पार्थक्य की जगह 'साहित्य' और 'पाठ', 'धर्म' और 'मनोरंजन', 'रिचुअल' और 'मंच प्रदर्शन' के परस्पर गड्ड-मड्ड होते जाने में मजा लेते दीखते हैं।

टी.वी. के ज़रिये घटनाओं के सजीव प्रसारण की आज उपलब्ध विधि 'जीवन' और 'मंच प्रयोग' के भेद को धुँधला करने की दिशा में ख़ासा कारगर तत्व है। लेकिन क्या यह सब मंच प्रयोग या रंगमंच की मुक्ति का अभियान है?

वस्तुतः टी.वी. के ज़रिये घटनाओं के सजीव प्रसारण की आज उपलब्ध विधि 'जीवन' और 'मंच प्रयोग' के पार्थक्य को धुँधला करने की दिशा में ख़ासा कारगर तत्व है। लेकिन क्या यह सब मंच प्रयोग या रंगमंच की मुक्ति का अभियान है? यथार्थ और यथार्थ के संकेत के बीच के विभेद को विगलित करने का एक गहरा राजनीतिक अर्थ है। इस विगलन से राजनीतिक समालोचना की संभावना खत्म करने का षड्यंत्र प्रतीत होता है। हर्वर्ड ब्लाउ इस बात को कुछ रहस्यात्मक भाषा में प्रस्तुत करता है :

'भूमंडलीय गाँव पर माया का आवरण उतर रहा है, विस्मय भौहों पर बैठा है, हम केवल 'प्ले' की बात नहीं कर रहे हैं, बल्कि 'काल्पनिक' के छायापथ में, विश्वनाटक की सर्वव्यापकता की बात कर रहे हैं।' इस तरह वास्तविकता जीवन और 'मंचप्रयोग' के बीच के विभेद को मिटाने के प्रयत्न का एक राजनीतिक प्रयोजन है, जो न कला के साथ न्याय करने वाला है, न जीवन के साथ।

आज 'उत्तर-आधुनिक' रंगमंच के सामने 'रिप्रेजेन्टेशन' (अनुप्रस्तुति) और 'प्रेजेन्स' (उपस्थिति) के रंगकर्म का द्वंद्व खड़ा है। अतः 'उत्तर-आधुनिक' रंगमंच की एक अन्य प्रवृत्ति कठोर सीमा रेखाओं को तोड़ने और उनकी जटिलता की राजनीतिक संभावनाओं को देखने की है। एक ऐसे विश्व में, जिसमें प्रदर्शन ही प्रमुख हो गया है, 'अनुप्रस्तुति' की संरचना के बारे में ही संदेहशील होना आवश्यक है, ताकि अब तक प्रभुत्व पा चुके 'प्रेजेन्स' के मिथक का निषेध आरंभ हो सके। वस्तुतः करिश्माई 'प्रेजेन्स' या 'सेल्समैन' की भूमिका में आ चुके 'प्रेजेन्स' और दमनकारी शक्ति संरचना के बीच गठबंधन के दिखलाई पड़ने के बाद एक बेचैनी का अनुभव होने लगा है। रंगमंच के 'प्रेजेन्स' शक्ति का मूल स्रोत बन चुका है। अतः 'उत्तर-आधुनिक' रंगकर्म में 'प्रतिरोध के रंगमंच' का उदय भी हो चुका है। अतः 'उत्तर-आधुनिक' रंगकर्म में 'प्रतिरोध के रंगमंच' का उदय भी हो चुका है। यह प्रतिरोधी रंगकर्म सत्ता के साथ 'प्रेजेन्स' के गठबंधन का पर्दाफ़ाश करता है, ताकि उसके करिश्माई 'अदर' के रूप में स्थापित करने का विरोध कर सके। यही कारण है कि फिलिप एलेक्जेंडर भाषा और परंपरागत रंगमंच के अनुभव को तोड़ने वाले क्रांतिकारी रंगमंच मात्र की बात नहीं करता। न्यूयॉर्क का 'बूस्टर

Print to PDF without this message by purchasing novaPDF (http://www.novapdf.com/)

समूह' अपनी प्रस्तुत से 'प्रेजेन्स' के रंगमंच को भीतर से तोड़ने की कोशिश करता है। यह समूह ऑर्थर मिलर की रचना के अंश 'द क्रूसिबिल' के अंशों को 1960 के 'ड्रगगुरु' डॉ. टिमोथी लियरी के मुकदमों के साथ-साथ 'रिप्रेजेन्टेशन' के रूप में प्रस्तुत करता है। बीच में और भी बहुत से 'आइटम' हैं, जैसे टिमोथी लियरी और डॉ. जी. गोर्डेन लिड्डी के बीच चल रही बहस के उद्धरण, 'मियामी वाइस' के अंश, 'द क्रूसिबल' के एल.एस.डी. के प्रभाव के अंतर्गत किये जा रहे 'रिहर्सल' के अंश की अनुप्रस्तुति आदि।

इस सबका उद्देश्य मिलर के 'टेक्स्ट' को काटकर एक भिन्न संदर्भ में दिखाना था, उदाहरणार्थ जातीय और 'सेक्सुअल' विभेद के संदर्भ में, जो मिलर की कृति में नहीं है। तो यह रंगमंच की विमुक्ति नहीं, बल्कि रंगमंचीय 'डिकांस्ट्रक्शन' है। यह आर्तो के नारे 'अब श्रेष्ठ कृति और नहीं' की घोषणा को दुहराने के यत्न से भिन्न प्रयोग है। यह प्रदत्त संरचना को युगवत् ग्रहण करने और प्रतिरोध करने का प्रश्न है।

उत्तर-आधुनिक 'परफॉरमेंस' के इस मॉडेल के मूल में 'फॉर्म', 'फिक्सिटी' और 'आइडेन्टिटी' से असंतोष मात्र नहीं है, अपितु एक गहरा संदेह भी है कि कलाकृति को बाजार की 'कमोडिटी' के रूप में दुरुपयोग करने और जाल में फंसाने का एक षड्यंत्र चल रहा है। यदि कला को कलावीथियों, नाटकघरों, टी.वी. संजालों और विश्वविद्यालयों से दी जा रही उन पण्य-वस्तुओं में रूपांतरण की धमकी से बचाने के रास्ते ही खोजने हैं तो बेहतर, तर्कसंगत और चरम बिन्दु पर पहुँची दृष्टि यही होगी कि कला अपने कला होने से ही इंकार कर दे, ताकि वह अपने को स्थायी और पुनरुत्पादनयोग्य रूप में प्रस्तुत करने का निषेध कर सके। यह बाज़ार की जगहों में कला के अनुचित उपयोग का प्रतिरोध मात्र नहीं है, अपितु बाज़ार जिस निहित स्वार्थ के साथ सत्ता और विशेषाधिकार से अपने को संपृक्त करती है, उसका भी प्रतिरोध है।

'उत्तर-आधुनिकता' का विचार बाज़ार की शक्तियों के समर्थन का विचार मात्र नहीं है, इन शक्तियों के दमनकारी और प्रदूषक तत्वों के विरोध का भी विचार इसमें सन्निहित है, इसलिये 'उत्तर-आधुनिक' रंगकर्म की एक धारा अधिकारिक 'मीडिया संस्कृति', परजीवी के रूप में, जिस तरह कला को अपना शिकार बनाती है, उसका प्रतिरोध करती है।

किन्तु यह अजब बात है कि 'कमोडिटी' के रूप में अवरुद्ध होने का आतंक परस्पर विरोधी प्रक्रिया को जन्म देता है। मुक्त प्रयोग की पलायनपरक तीव्रता का अर्थ कलावीथियों, संग्रहालयों या पुस्तकों के रूप में 'डॉक्यूमेंटेशन' कर देने के किसी भी प्रयास का निषेध करता है, पर दूसरी ओर 'रिकॉर्ड' (तरह-तरह की 'पैकेजिंग', प्रदर्शन, 'टेप' और संग्रहालय में सुरक्षा) की तीव्र लालसा भी पैदा करता है। कला को 'कमोडिटी' में रूपांतरित कर देने का यह ख़तरा जितना 'उत्तर-आधुनिक' मंच-प्रयोग के लिये है, उससे कहीं ज़्यादा बड़ा ख़तरा पारंपरिक भारतीय कलाओं और रंगकर्म के लिये है। पारंपरिक भारतीय रंग-प्रयोग प्रयोक्ता के देह, वाणी और मन में बसता है और इसलिये प्रशिक्षण, सतत अभ्यास और प्रस्तुति की अपेक्षा करता है। वह पण्य वस्तु नहीं, अपितु जीवन के उत्सव के साथ संबद्ध रहा है, इसलिये जीवन ही है। उसे पुनरुत्पादन के क्रम में विषयरूपता (ऑब्जेक्टहुड) के मृत अवशेष (फोटोग्राफ, ऑडियो-वीडियो रिकॉर्डिंग) आदि में रूपांतरित करने से उसके अस्तित्व के ही लोप होने का ख़तरा है। पूँजीवाद के तृतीय चरण ने अपने को 'उत्तर-पूँजीवाद' के महिमामंडित नाम से अभिहित करना शुरू किया है, जैसे नव-उपनिवेशवाद ने 'उत्तर-उपनिवेशवाद' के मोहक नाम को अपना लिया है। उत्तर-पूँजीवाद दावा करता है कि उसने सूचना, संप्रेषण और पुनरुत्पादन के संजाल को इस प्रकार नये रूप में संगठित किया है कि 'डेड कमोडिटी ऐज थिंग' और 'लिव परफॉरमेंस ऐज प्रॉसेस' के सीधे-सीधे पारस्परिक विरोध को विगलित कर दिया है, किन्तु यह दावा खोखला है और पारंपरिक भारतीय कला की अव्यावहृत सृजनशीलता को ख़त्म कर देने की चुनौती देता है। यह बात पारंपरिक रंगमंच पर भी लागू होती है। विषयरूपता के मृत-अवशेष परंपरा की रक्षा में सहायक के रूप में प्रयुक्त

उत्तर-आधुनिक 'परफॉरमेंस' के इस मॉडेल के मूल में 'फॉर्म', 'फिक्सिटी' और 'आइडेन्टिटी' से असंतोष मात्र नहीं है, अपितु एक गहरा संदेह भी है कि कलाकृति को बाजार की 'कमोडिटी' के रूप में दुरुपयोग करने और जाल में फंसाने का एक षड्यंत्र चल रहा है।

Print to PDF without this message by purchasing novaPDF (http://www.novapdf.com/)

हों, तो क्या आपत्ति है, पर वे यदि उसके अस्तित्व को ही समाप्त कर देने का कारण बनें, तो चिन्ता स्वाभाविक है।

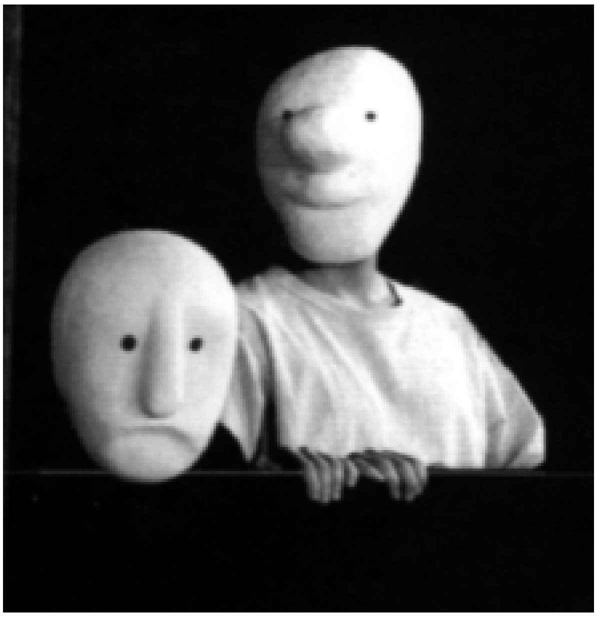

पारंपरिक भारतीय रंगमंच को एक और चुनौती 'उत्तर-आधुनिक' 'मास-कल्चर' में 'लिव' की अवधारणा के अनुरूप 'रॉक' संगीत के 'मीडिया' द्वारा प्रसारित किये जा रहे उन्मादकारी और प्रदूषक प्रभाव से भी है। इस संगीत में 'आदमी मूल्यों' की वापसी और 'लिव परफॉरमेंस' की ऊर्जा मुख्य तत्व रहे हैं। आधुनिकतम प्रकाश और ध्वनि की सहायता से कल्पनातीत रूप में विशाल, प्रत्यक्ष और परोक्ष, दर्शक-समूह के समक्ष परोसे जाने वाले इसके 'परफॉरमेंस' में 'मिथकीय चरित्र' की उपस्थिति और एक 'इरोटिक' नज़दीकी का अनुभव देने की चेष्टा की जाती है। ज़ाहिर है कि इसमें नवीनतम 'इलेक्ट्रॉनिक' तकनीक के चमत्कार का इस्तेमाल किया जाता है और पुनरुत्पादन तथा अनुप्रस्तुति की नई विधियों अर्थात् टी.वी., फिल्म, रिकॉर्ड, टेप और पिक्चर का उपयोग 'प्रेजेंस' के प्रतिनिधि के रूप में किया जाता है। बीटिल्स, पिंक-फ्लायड, स्प्रिंगस्टीन, डायरस्ट्रेट्स, माइकेल जैक्सन और 'स्पाइस गर्ल्स' की मायावी 'प्रेजेन्स' के नाम पर 'अनुप्रस्तुति' के विरोध में आरंभ हुई उत्तर-आधुनिकता एक उन्मादकारी और कई मामलों में कुंठित कर देने वाले 'रिप्रेजेंटेशन' को अंगीकार कर देने की लाचारी में फँसी है। डेल्यूज, देरिदा और दूसरे चिन्तकों ने इस नियति की ओर इशारा करके लिखा है कि 'हम एक ओर 'इमीडियेट', 'ओरिजिनल' और 'रियल' की चाह करते हैं और दूसरी ओर दोयम दर्जे के, उत्सर्जित और मिथ्या 'रिप्रेजेंटेशन' पर आश्रित हैं। हमारे यथार्थ और सत्य की चेतना में दोहराव महत्वपूर्ण भूमिका अदा करता है। वस्तुतः कला की मौलिकता का प्रभामंडल 'यांत्रिक दोहराव' के प्रमुख होते जाने के साथ ही लुप्त हो चुका है।'

इस अपरिहार्य उत्तर-आधुनिक विरोधाभास से हमें चकित क्या होना, सूचनाओं के 'विस्फोट' और उसके संप्रेषण के अनुग्रह के नाम पर 'बहुराष्ट्रीय' मुट्ठीभर इज़ारेदारों द्वारा मीडिया पर एकाधिकार के ज़रिये मानवीय विवेक और विचार-शक्ति पर एकाधिकार करने के लिये की जा रही जी-तोड़ कोशिश, आणविक संहारक अस्त्रों पर गिने-चुने राष्ट्रों द्वारा इस 'एक-ध्रुवीय-विश्व' में किये जा रहे सतत भयादोहन से किसी कदर कम नहीं है।

'उत्तर-आधुनिक' रंगमंच में भी यह लालसा एक प्रतिरोधी शक्ति के रूप में देखी जा सकती है। उत्तर-आधुनिकता की इस द्वंद्वात्मकता का उपयोग हम अपनी निजता के आविष्करण और सुरक्षा के लिये, अपनी समझ को और धार देने के लिये, अपने संघर्ष को और तेज़ करने के लिये और अपनी पारंपरिक विचार-भूमि को और अधिक पुष्ट करने के लिये कर सकते हैं, क्योंकि विश्व विचार में निहित सत्य का हमारे अपने पारंपरिक विचार के साथ कोई आत्यंतिक और एकांतिक विरोध नहीं हो सकता।

इस बिन्दु पर भारतीय पारंपरिक रंगकर्म को अधिकाधिक कलागत स्वायत्तता और शक्ति प्राप्त करने का एक अक्षय स्रोत मानने के लोभ का संवरण नहीं हो पाता। यह रंग-परंपरा प्रयोक्ता की स्वमात्र पर निर्भरता के सिद्धांत पर आधारित एक समर्थ और जटिल आंगिक भाषा, रंगमंच की मिश्रित संरचना की अंतर्दृष्टि, समूचेपन की वैकल्पिक विश्व-दृष्टि से उपजी एक समग्र रंगभाषा एवं रंगमंचीय अनुभव की अटल नींव पर खड़ी है और आज भी केवल वैध ही नहीं, अधिक प्रासंगिक भी है।

यह सही है कि विज्ञान के द्वारा दी गई सुख-सुविधाओं के प्रति मनुष्य के आकर्षण और वैज्ञानिक प्रविधि से आमूलचूल बदल गये उत्पादन साधनों की उपयोगिता और परिवर्तनकारी शक्ति से इंकार नहीं किया जा सकता, किन्तु प्रविधि और उत्पादन के साधन के लिये आवश्यक भूमि, जल और आकाश पर एकाधिकार की अंधलालसा भी एक सच्चाई है। इसलिये द्वंद्व और बहुलता के इस जीवन को समझने और बदलने के साथ ही सारी सच्ची समझ का अधिकरण बनती मनुष्य की टुकड़े-टुकड़े न हो गई चेतना भी कम ज़रूरी नहीं है। सारी दमनकारी ताकत और अलंघ्य-सी दीखती सारी चुनौतियों के बावजूद 'उत्तर-पूँजीवाद' के महिमामंडित किये गये इस दौर में उसे अपराजेय मान लेने की लाचारी या 'उत्तर-आधुनिक' 'टेक्नोक्रेट' के उदय-मात्र से पूँजीवाद के अवश्यंभावी और निर्दय वर्गभेद का अंत मान लेने की ख़ुशफ़हमी को स्थान नहीं है। हाँ, चीज़ें और जटिल हो रही हैं।

गति और विश्रांति, मनुष्य और निसर्ग, अंतः और बाह्य, व्यष्टि और समष्टि जैसे द्वंद्वों के सामंजस्य की चेतना से उपजा पारंपरिक भारतीय रंगमंच केवल रंगमंच ही नहीं, बल्कि एक भरा-पूरा दर्शन भी है, जो अगर एकमात्र सच नहीं तो वैकल्पिक सच तो है ही। 'आधुनिक' और 'उत्तर-आधुनिक' रंगमंच के अपने अंतर्विरोध हैं और अपने पारंपरिक रंगमंच के भी। फिर भी, अच्छा हो हम अपने रंगमंच में निहित शक्ति से ही अपने लिये कोई उत्तर खोजें।

सवाल खिड़कियों को बंद करने का नहीं, बंद होती खिड़कियों को खोलने का है। एक सर्वग्रासी चुनौती के आगे आत्मसमर्पण और हार भी हो सकती है, किन्तु रक्षा की संभावना अभी खत्म नहीं हुई है।

(इस लेख के लिये लेखक को स्टेवेन कोन्नोर की पुस्तक 'पोस्ट-मॉडर्निस्ट कल्चर : एन इंट्रोडक्शन टु थियरीज ऑफ दी कंटेम्पोरेरी' की सहायता मिली है।) साभार : रंग प्रसंग

Print to PDF without this message by purchasing novaPDF (http://www.novapdf.com/)

रंगमंच भी एक खेल की तरह है। रंगमंच जहां नाटक खेला जा रहा है वह बच्चे के लिये कार्यशाला भी है और उनका मुक्त स्थल भी। वह उसके लिये कोई क़ैदख़ाना नहीं, बल्कि खेल का हरा-भरा उन्मुक्त मैदान है, जहां बालक अपने मनभावन खेल खेलने जा रहे हैं।

बाल रंगमंच
सीमाएँ और सम्भावनाएँ

डॉ. सेवाराम त्रिपाठी

यूं तो रंगमंच बहुत व्यापक आयामों में प्रयुक्त होने वाला शब्द है। यह समूची सृष्टि के भावों का अनुकरण करता है। धर्म, क्रीड़ा, शांति, हँसी-खुशी, संघर्ष, अनीति, संयम सब इसके भीतर हैं। यह उत्साह जगाने वाला है। हर प्रकार के भावों, रसों, रंगों, रूपों, रूपकों और प्रतिमानों को अपने भीतर जज़्ब करने वाला भी है। भरतमुनि ने नाट्य शास्त्र में लिखा है कि ''यह नाट्य उत्तम, मध्यम और नीच सभी प्रकार के लोगों के कार्यों से सम्बद्ध है और सबको हितकारी उपदेश देने वाला तथा धैर्य, क्रिडा, सुख देने वाला भी है। ...यह नाट्य दुःख से, अति परिश्रम से क्लान्त, शोक से संतप्त जनों को समय पर विश्राम देने वाला होगा। ...न कोई ऐसा ज्ञान है, न शिल्प है, न विद्या, न कोई ऐसी कला है, न योग है और न ही कोई कार्य ही है जो इस नाट्य में न प्रदर्शित किया जाता हो।''

रंगमंच के दायरे में सब कुछ है। वह जीवन भी है और जीवन की पुनर्रचना भी। नाटक बनने से लेकर यानी स्क्रिप्ट से लेकर उसके प्रदर्शन तक हमारे जीवन, समय, समाज और सम्भावनाओं की जितनी भी रंग छवियां हैं, जितनी भी शिल्प-संभावनायें हैं। संघर्ष द्वन्द्व और कलायें हैं, इस नाट्य में सबके लिये पर्याप्त स्थान है, उन सबकी तेजस्वी भूमिका भी। इसकी ग्रहण क्षमता इतनी व्यापक, विशाल एवं विपुल है कि यह कहीं से कुछ भी ग्रहण करने में समर्थ है। शेक्सपीयर ने संसार को रंगमंच कहा है तो उनका आशय जीवन्तता, ग्राह्यता, संलग्नता, विशालता और मनुष्य के संघर्ष के विविध आयामों एवं कोणों से रहा है। जिस तरह हमारा जीवन निरन्तर विकासमान, गतिमान, ऊर्जावान और परिवर्तनशील होता है, उसी तरह रंगमंच भी है। रंगमंच में सब कुछ को अपने में समा लेने की शक्ति और क्षमता है जैसे

Print to PDF without this message by purchasing novaPDF (http://www.novapdf.com/)

बच्चों में अनुकरण की क्षमता ग़ज़ब की होती है। उनके भाव जगत में, उनके निर्दोष मन में हर चीज़ का असर बहुत ज़्यादा होता है वह रेत पर खिंची लकीर की तरह नहीं वरन् पत्थरों में अंकित छवियों की तरह होता है।

उसमें डूब जाने, समा जाने यानी जीवन को नये सिरे से प्रस्तुत करने के विभिन्न रूपों को चाक्षुष बनाने की क्षमता है। रंगमंच के विराट आंदोलन में कई तरह के स्वर हैं, कई तरह की प्रविधियां भी हैं। रंग आंदोलन में अतीत से लेकर वर्तमान तक कई प्रकार के प्रभाव रहे हैं।

सबका अपना-अपना महत्व है। 'को बड़ छोट कहत अपराधू' कई तरह की भाव छवियां, रंग छवियां भी रही हैं कि - केसव कहि न जाय का कहिये/देखत तब रचना विचित्र अति समुझि मनहिं मन रहिये। मैं इन विभिन्न स्वरों में से एक स्वर को प्रतीक के तौर पर रखना चाहता हूं और वह स्वर है नुक्कड़ रंगमंच का। जिसे कुछ समूह और अति आग्रही रंगमंच ही नहीं मानना चाहते। सफ़दर हाशमी के अनुसार - ''आधुनिक राजनैतिक नुक्कड़ रंगकर्म एक सामाजिक ज़रूरत की पैदाइश है। जनवादी आंदोलन से जो जन संस्कृति पैदा होती है नुक्कड़ नाटक उसी का एक अंग है। पूंजीवादी-सामंती व्यवस्था ने जो सांस्कृतिक नेटवर्क खड़ा किया है वह जनवादी संस्कृति के प्रचार का माध्यम नहीं बन सकता। (स्वातंत्र्योत्तर युगीन परिप्रेक्ष्य और नुक्कड़ नाटक, पृ. 116) इसी तरह ब्रेख़्त नाटक और रंगमंच को उन लोगों की आवाज़ बना देने के पक्ष में थे, जिन्हें व्यवस्था बोलने नहीं देती। नुक्कड़ रंगमंच जनता का, जनता द्वारा जनता के लिए खेलने, प्रशिक्षित करने वाला और उनके जीवन में काम आने वाला रंगकर्म है। इसलिये इसे अपार ख्याति भी मिली।

जनता से सीखने-सिखाने वाली जीवन की बहुआयामी, बहुस्तरीय बहुकोणीय कला माध्यम के रूप में रंगमंच का कोई और विकल्प हो ही नहीं सकता। सम्भवतः इसलिये जब से मनुष्य है उसका जीवन है, उसके कार्य व्यवहार हैं तब से यह माध्यम है अपनी कमियों -ख़ूबियों से संघर्षरत जीवन के विविध आयामों के साथ। भरतमुनि के पहले भी रंगमंच रहा होगा, उसका कोई न कोई ड्राफ्ट भी रहा होगा नहीं तो भरतमुनि का इतना बहुस्तरीय नाट्य शास्त्र सम्भवतः नहीं रचा जा सकता था। यह प्रश्न मेरे लिये महत्वपूर्ण है।

कि हमारे जीवन में होती है, इसलिये जीवन और रंगमंच एक दूसरे के पूरक और समानधर्मी भी हैं।

रंगमंच इकहरी कला सृष्टि नहीं है। वह कलाओं का समुच्चय है। समूची कलाओं की आवाजाही और भूमिकायें रंगमंच में सम्प्रेषण को जीवन्त बनाती हैं और उसकी ग्रहण क्षमता को बहुस्तरीयता प्रदान करती हैं। रंगमंच में अमूर्त को मूर्त करने की क्षमता है। नाट्यालेख को निर्देशक की योग्यता और अभिनेताओं की अभिनय क्षमता और विभिन्न कला संरचनाओं के द्वारा जीवन्त करने की क्षमता है। अर्थात वह शरीर में प्राण फूंकने, उसे जीवन्त, गतिशील और सार्थकता में रूपान्तरित भी करता है। दोनों की अनिवार्यता भी है। दोनों एक दूसरे से बहुत गहरे जुड़े हुये हैं।

रंगमंच की अनेक शैलियां हैं। उसकी विकास यात्रा के अनेक सोपान हैं। लोकरंगमंच से लेकर पारसी थियेटर, रामलीला, ब्रेख़्त शैली, शेक्सपीयर शैली, नौटंकी, स्वांग, नाचा, बिदेसिया, रास, यात्रा, भवई, माच, भांड, शास्त्रीय रंगमंच, एब्सर्ड (असंगत) रंगमंच, नुक्कड़ रंगमंच आदि ने इस जीवन की पुनर्रचना वाले आयामों को इतनी सघनता और विस्तार दिया है कि इसे हम समग्र रंग आंदोलन कह सकते हैं। इसमें सीखने-सिखाने, जीवन की नस-नस को पहचानने,

Print to PDF without this message by purchasing novaPDF (http://www.novapdf.com/)

जहां तक बाल नाटकों और बाल रंगमंच का सवाल है उसका विकास अभी भी हाशिये पर है। प्रश्न है कि जब बाल साहित्य, बाल नाटकों और बाल रंगमंच को गंभीरता से नहीं लिया जाता तो उसके स्तर, गति और विकास की चिन्ता किसे हो सकती है? बाल नाटकों की स्थिति भी कमज़ोर है। नाटक सम्प्रेषण की दृष्टि से सर्वाधिक प्रभावशाली माध्यम है। बाल नाटकों का लिखा जाना भी बहुत कम है, फिर तो बाल रंगमंच की कल्पना करना उसके विकास का सपना देखना, बहुत दूर की बात है लेकिन यह सपना हम देख रहे हैं। बाल नाटकों की विशिष्टता यह होती है कि वे उनकी संवेदना, सीखने की कला, उनके अनुभव संसार में शामिल होकर सामाजिक, सांस्कृतिक जटिलताओं को और जीवन की आपाधापियों को बिना मस्तिष्क में अधिक ज़ोर दिये दुनिया को जान-पहचान सकते हैं। साहित्य और कला माध्यमों में बाज़ार ने, सूचना संसार ने घेरेबंदी कर रखी है। इन वास्तविकताओं से जूझने के लिये बाल नाटकों के लेखकों को बहुत सतर्क होकर सोचना पड़ेगा।

बच्चों में अनुकरण की क्षमता ग़ज़ब की होती है। उनके भाव जगत में, उनके निर्दोष मन में हर चीज़ का असर बहुत ज़्यादा होता है। वह रेत पर खिंची लकीर की तरह नहीं वरन् पत्थरों में अंकित छवियों की तरह होता है। बाल मन में अश्लील और कुरूप छवियों के प्रभाव भी जल्दी असर डालते हैं। मुझे लगता है कि लोक कथायें, लोक प्रसंग, लोक रुचियों से निर्मित नाटक जिनमें यथार्थ का निष्कलुष अंकन हो तो वे जीवन छवियों को शिद्दत के साथ अभिव्यक्त कर सकते हैं। वैसे भी बच्चों की दुनिया निराली होती है। उनका मन निर्मल, जिज्ञासा अकूत और प्रभाव ग्रहण करने की भरपूर क्षमता होती है। उनकी पकड़ भी तेज़ होती है। बाल नाटकों की भाषा सरस, सरल और सहज होनी चाहिये। उसमें जटिलता के लिये कोई स्थान नहीं है। बाल नाटकों को खेला जाने वाला रंगमंच आकर्षक चटक रंगों से सजा, आंखों को सुखकर, नृत्य संगीत से युक्त हो। छोटे-छोटे संवाद हों, जिनमें मानवीय संवेदना का घोल हो, ताकि बच्चे इसे आसानी से हृदयंगम कर सकें, क्योंकि उनके मन पर इन सभी के स्थायी प्रभाव होते हैं। एक चुनौती बाल नाटकों के निर्देशन की भी है। बड़े बुज़ुर्ग जब तक बाल मनोविज्ञान, बाल सौन्दर्य बोध और जीवन में उसके प्रभाव और महत्व को नहीं समझते तब तक उस यथार्थ की संरचना को सही आयाम नहीं मिलेंगे। इससे जुड़े बिना यथार्थ के प्रस्तुतीकरण की समझ के बिना उनके रंगमंच को विकसित नहीं किया जा सकता।

बाल नाटकों को खेला जाने वाला रंगमंच आकर्षक चटक रंगों से सजा, आँखों को सुखकर, नृत्य संगीत से युक्त हो। छोटे-छोटे संवाद हों, जिनमें मानवीय संवेदना का घोल हो, ताकि बच्चे इसे आसानी से हृदयंगम कर सकें, क्योंकि उनके मन पर इन सभी के स्थायी प्रभाव होते हैं।

Print to PDF without this message by purchasing novaPDF (http://www.novapdf.com/)

रंगमंच भी एक खेल की तरह है। बच्चों के नाटकों का लेखन एवं निर्देशन करने के लिये उनकी संवेदन क्षमता की समझ होनी चाहिये। मैं 'तारे ज़मीन पर' फिल्म के उन दृश्यों, भंगिमाओं और दृश्यावलियों की याद दिलाना चाहता हूँ, जिसमें कला का अध्यापक निर्देशक के रूप में रचनात्मकता के स्तरों का समझदारी से प्रयोग करना एक बड़ी चुनौती है। बच्चों के नाटक लिखने वाले चाहे जितने बड़े हों, समझदार हों लेकिन तर्क और समस्याओं के हल बच्चों की दुनिया के ही होंगे। जो शब्दों के इस पार से उस पार तक की यात्रा करेगा। कल्पना की दुनिया की असीमित परिभाषाओं के परे जाकर। लेखक और निर्देशक को रंगों की समझ, बालमन पर पड़ने वाले प्रभावों की समझ जितनी ज़्यादा होगी बाल रंगमंच की सम्भावनायें उतनी ही बढ़ेंगी। बच्चों का कथानक और उसका समूचा रूप उन्मुक्त होना चाहिये। बच्चा कहीं भी अपने को बंधा हुआ या जकड़ा हुआ अनुभव ना करे, यदि ऐसा हो सका तो रंगमंच बालकों के लिये एक खेल से ज़्यादा कुछ नहीं होगा और उनका अभिनय जीवन्त मूर्त एवं अभूतपूर्व होगा। रंगमंच जहां नाटक खेला जा रहा है वह बच्चे के लिये कार्यशाला भी है और उनका मुक्त स्थल भी। वह उसके लिये कोई क़ैदख़ाना नहीं, बल्कि खेल का हरा-भरा उन्मुक्त मैदान है, जहां बालक अपने मनभावन खेल खेलने जा रहे हैं।

बच्चों के नाटकों के संदर्भ में सर्वेश्वर दयाल सक्सेना के अनुभव कुछ इस तरह हैं- ''बच्चे को यथार्थवादी रंगमंच की ज़रूरत नहीं है। वह एक तिनके से जितनी बड़ी कल्पना कर सकता है बड़े नहीं कर सकते। उसे कल्पनाशील सादा रंगमंच चाहिये। एब्सर्ड होने में उसे और मज़ा आता है। वह प्रकृति, पशु, पक्षी, जानवरों, टीमटाम, नाच गान, शोरगुल सबसे बड़ी लगन से जुड़ता है। अतः उसके लिये नाटक लिखना एक विशाल कैनवास के सामने खड़ा होना है। यदि आप उस कैनवास के सामने खुद को छोटा महसूस न करें तो बच्चे के नाम पर वह कैनवास छोटा नहीं होगा।''

मुझे लगता है कि हमें बच्चों को केवल बच्चा समझने से बचना चाहिये। उनके अंदर बहुत कुछ पकता है। अनेक प्रकार के प्रभाव होते हैं, चित्रमयता होती है, सीखने की जैसी उद्दाम इच्छा उनमें होती है, बड़ों में नहीं होती। उनकी अनगढ़ता में कला की, जीवन की जितनी सुगढ़ता होती है, उसका कोई मुकाबला नहीं कर सकता। उनके लिये न तो चौखटे बनायें ना उन्हें सीमित संसार में क़ैद करने की चेष्टा करें। सर्वेश्वरजी यह भी मानते हैं कि वह कम में बहुत कुछ ग्रहण कर लेगा बशर्ते आप उसके साथ मिलकर रच रहे हों। लोक नाटकों के रंगारंग उपकरण आपके पास हैं। कलम आपके हाथ में है उनके साथ बैठिये, रचिये। दुनिया में और कहीं मुक्ति देने पर मुक्ति मिलती हो या न मिलती हो पर बच्चे के लिये ऐसा रचकर जिससे कि वह मुक्त हो, रचनाकार अवश्य खुद को मुक्त महसूस करता है। (बाल साहित्य रचना और समीक्षा, पृष्ठ 117-18)

बाल रंगमंच अभी भी समस्याओं से घिरा हुआ है। बड़े लोगों का इस क्षेत्र में दखल बहुत है। ध्यातव्य है कि बाल रंगमंच बच्चों का खुला संसार हो उनको अभिनय की छूट हो, उसमें वेशभूषा ज़्यादातर उन्हीं के अनुकूल हो। पर्दा उठाने गिराने की समस्या न हो। बच्चे सहज रूप में संवाद अदायगी करें तो बेहतर हो। ऐसा नहीं है कि प्रारम्भ से लेकर अभी तक का बाल रंगमंच शून्य में है। यह समझना भूल होगी। नर्मदा प्रसाद खरे ने नवीन बाल नाटक माला (1955), केशवचंद वर्मा - बच्चों की कचहरी (1956), चचा छक्कन के ड्रामे (कुंदसिया जैदी) वे सपनों के देश से लौट आये (भानु मेहता) प्रतिनिधि बाल एकांकी (1962), सिद्धनाथ कुमार कृत आओ नाटक खेलें (1962), चुने हुये एकांकी (1965), सर्वेश्वर दयाल सक्सेना कृत 'भों भों खों खों' आदि प्रमुख हैं। ये तो कुछ नमूने हैं। बाल नाटकों का बाल रंगमंच का बहुविध प्रयोग हिन्दी संसार में हुआ है। इसे अनदेखा नहीं किया जाना चाहिये। बालकों के चहुंमुखी विकास में उनके व्यक्तित्व निर्माण में रंगमंच की उपयोगिता किसी से छिपी नहीं है। केन्द्रीय रंगमंच की तरह बाल रंगमंच भी दुर्दशाओं उपेक्षाओं में फँसा हुआ है। रंगमंच के ज्ञाता बाल रंगमंच की ओर समुचित ध्यान नहीं दे रहे हैं। उनके मन में या तो यह दुविधा है कि यह तो कमतर रंगमंच है जबकि सही बात तो यह है कि बाल रंगमंच ही रंगमंच की बुनियाद है। इसी से बड़ों का रंगमंच शक्तिशाली होगा, इसे हमें नहीं भूलना चाहिये।

यह सुविख्यात तथ्य है कि बच्चों में सीखने की, जानने की, प्रश्नांकन की और अभिनय करने की नैसर्गिक प्रतिभा होती है। उन्हें उनकी क्षमता के अनुरूप, उनकी योग्यता के अनुरूप यदि निर्देशित किया जाता है तो वे अपनी अपार सम्भावनाओं को चुटकी बजाते हुए सिद्ध कर देते हैं। क्योंकि उनकी प्रतिभा का प्रस्फुटन सहज, सरल और स्वाभाविक ऊर्जा से भरा होता है। ज़ाहिर है कि वयस्कों का प्रस्फुटन सहज, सरल और स्वाभाविक ऊर्जा से भरा होता है। ज़ाहिर है कि वयस्कों का रंगमंच या मुख्य धारा का रंगमंच भी उतनी आसानी से

Print to PDF without this message by purchasing novaPDF (http://www.novapdf.com/)

जिन चीज़ों का प्रदर्शन नहीं कर पाता। बच्चे उन्हें स्वाभाविक रूप में कर डालते हैं। दरअसल रंगमंच अपने व्यक्तित्व को और जीवन के बहुविध आयामों को व्यक्त करने की जीवन्त कला है। जहां बनावटीपन नहीं होता। बच्चों में गीत, संगीत, नृत्य और खेल के प्रति सहज ही आकर्षण होता है। वे दूसरों की देखादेखी उनकी बढ़िया नकल कर डालते हैं। उनमें वेशभूषा के प्रति, साज-सज्जा के प्रति एवं रंगों के प्रति गहरा आकर्षण होता है। बड़ों के थोड़े से निर्देश पर वे आश्चर्यचकित करने वाले कारनामों को अंजाम दे सकते हैं। यह कोई रहस्य नहीं है। अनेक बार बच्चों ने इसे साबित भी किया है।

बाल रंगमंच के प्रति अभी समुचित रूप से शासन-प्रशासन और इससे सम्बद्ध पक्षों का इतना ध्यान नहीं गया, जितना जाना चाहिये था। इस उदासीनता के सामाजिक, सांस्कृतिक कारणों के अलावा कहीं न कहीं हमारी गहरी उपेक्षा और तिरस्कार की भावना है। अब समय की ज़रूरत है कि हम बाल रंगमंच की ओर ध्यान दें उसे पेशेवर और ग़ैर पेशेवर रंगमंच की तकनीकों एवं शिल्प विधि का प्रयोग करते हुये उन्नतिशील बनायें और यदि ऐसा हो सका तो मुख्यधारा के रंगमंच को भी ताकत और गति मिलेगी। श्री प्रसाद ने चिन्ता व्यक्त करते हुये लिखा है कि ''बाल रंगकर्म प्रायः वयस्क रंगकर्म का अनुवर्ती रहा है। हिन्दी में वयस्क रंग गतिविधि जब भी बढ़ी है बाल रंगमंच का भी उत्थान हुआ है। आज बड़ों का रंगमंच भी अपनी चमक खो रहा है। फलतः बाल रंगमंच भी फीका हो रहा है। नाटक की परिणति है मंचन। बाल रंगमंच के अभाव में बाल नाट्य सृजन भी कमज़ोर हो गया।''

रंगमंच एक जटिल श्रम साध्य बहुमुखी माध्यम है। उसके लिये अभी तक देश के किसी प्रांत में उसे वैकल्पिक विषय के रूप में भी स्वीकृत नहीं किया गया। बाल नाटकों का न लिखा जाना कोई आश्चर्य नहीं है क्योंकि बाल रंगमंच ही अभी तक सक्रिय नहीं है, उसके बारे में किसी को कोई चिन्ता नहीं है। नेमीचन्द्र जैन ने बहुत वर्षों पहले इसे रेखांकित किया था। केवल प्रशिक्षण, प्रदर्शन भाषा की शुद्धता बोलने की तकनीक और संवादों की अदायगी में रंगमंच का प्रयोग सार्थक हो सकता है। नाटक के पूर्वाभ्यासों में कई तरह के प्रयोग किये जाते हैं। दृश्य सज्जा, रूप सज्जा, ध्वनियों के प्रति आकर्षण, रंगों, रूपाकारों के प्रति जुड़ाव, संगीत और नृत्य की भाव-भंगिमायें बच्चे आसानी से सीख सकते हैं। नेमिजी का यह मानना सही है कि- ''नाटक के प्रदर्शन में भाग लेना बालक के व्यक्तित्व को भी कई प्रकार से समृद्ध-सम्पन्न करता है। नाटक में भाग लेकर बच्चे समुदाय में रहना, काम करना और परस्पर सहयोग करना सीखते हैं। न सिर्फ़ प्रदर्शन और पूर्वाभ्यास के लिये ठीक वक़्त पर पहुंचना ज़रूरी होता है, बल्कि नाटक में अनेक कार्य किसी निश्चित संकेत पर तुरंत शुरू कर देने पड़ते हैं।'' (बाल साहित्य रचना और समीक्षा, पृ. 106)

बाल रंगमंच के विकास में यूं तो कमियां बहुत हैं लेकिन यह भी नहीं माना जा सकता कि अभी तक कुछ काम ही नहीं हुआ। इस निषेधात्मक प्रवृत्ति से हमें बाहर आना है। छठवें दशक में बाल रंगमंच की सक्रियता बढ़ी थी। स्कूलों में वार्षिक समारोहों के लिये दिल्ली जैसे महानगरों से लेकर कस्बों, गांवों, नगरों में किसी न किसी रूप में बाल रंगमंच की सक्रियता रही है। हाँ, उन नाटकों के कुछ निर्देशन खानापूर्ति के रूप में हुये और कहीं-कहीं पूर्वाभ्यासों में मेहनत से, लगन से काम हुये और उन्हें भरपूर सराहना मिली। इसके अलावा दिल्ली बाल रंगमंच की स्थापना से इस रंग आंदोलन को नई गति और ऊर्जा मिली है। 'भूमिका' नामक संस्था को भुलाया नहीं जा सकता। सुषमा सेठ के निर्देशन में चिल्ड्रंस क्रियेटिव थियेटर ने बहुत उपयोगी काम किये हैं। ब.व. कारंत, कविता नागपाल और हरजीत ने भी प्रदर्शन कराये हैं। नेमिचंद जैन का मानना है कि ''जब तक बाल रंगमंच हमारे जीवन में एक आवश्यक और स्वतंत्र कार्य के रूप में मान्यता नहीं पाता तब तक स्थितियों में कोई ख़ास सुधार सम्भव नहीं है। ...हिन्दी में वयस्कों के रंगमंच की भांति यहां भी एक विरोधाभास लगातार दीख पड़ता है। नाटकों में ये बातें सक्रिय बाल रंगमंच के बिना नहीं आ सकतीं और सक्रिय बाल रंगमंच अच्छे नाटकों के बिना नहीं बन सकता। (बाल नाटक : घर से रंगमंच तक, पृ. 110)।

बाल रंगमंच के बारे में इतने प्रश्न हैं, इतनी शंकायें हैं कि क्या कहें और क्या न कहें? लेकिन निराश होने की ज़रूरत नहीं है। बाल रंगमंच हो रहे हैं। बाल नाटक लिखे जा रहे हैं। कमी-पेशी की समस्या एक अलग समस्या है। रंगमंच वैसे भी बड़ी साधना, सक्रियता, कल्पनाशीलता, त्याग और उत्कट ईमानदारी की मांग करता है। रंगमंच की सक्रियता ने उन अवरोधों को तोड़ दिया है जिसके लिये कहा जाता था कि संचार माध्यम उसके विकास को खत्म कर देंगे। मीडिया, दृश्य श्रव्य माध्यम और मल्टी मीडिया उसे बढ़ने नहीं देगा।

विज्ञापन और बाज़ार की आंधियां शब्द माध्यम में और रंगमंच को क्षति पहुंचायेंगे। भारतेन्दु हरिशचन्द्र जयशंकर प्रसाद जी की चिन्तायें वाजिब थीं। लेकिन रंगमंच की सामाजिक संलग्नता और संवेदनशीलता ने रंगमंच को विश्वसनीयता प्रदान की है। लेकिन सवाल अभी भी हमारा पीछा कर रहे हैं, जिनसे रंगकर्मियों को निरन्तर टकराना पड़ेगा।

Print to PDF without this message by purchasing novaPDF (http://www.novapdf.com/)

शांति वर्धन

रचनात्मक नृत्यों की संरचना करने वाले देश में गिने-चुने ही नर्तक हैं, उनमें शांतिवर्धन बेहद प्रतिभा सम्पन्न थे। ऐसा लगता है जैसे प्रतिभा उनका प्राकृतिक गुण था। उन्होंने विपरीतताओं से संघर्ष करते हुए सफलताएँ अर्जित की हैं। बहुत कम लोग होते हैं जो भीषण असहमतियों और असंतोष के मूल को पकड़ पाते हैं और ऐसे लोगों में वे लोग और भी कम होते हैं जो उनका कलात्मक रूपांतरण कर पाते हैं। शांति ऐसे ही थे। शांति वर्धन की चमत्कारी प्रस्तुतियाँ ''इण्डिया मोर्ट'' और ''स्पिरिट ऑफ इण्डिया'' में जहाँ नृत्य-नाट्य की आदिशक्ति के भी दर्शन होते हैं वहीं संस्कृति के लोक तत्वों का साम्राज्यवाद विरोधी विचारों के प्रति रंग रचनात्मक समाहार भी देखने मिलता है। *-मुल्क राज आनंद*

एक स्वप्न का यथार्थ

रामप्रकाश त्रिपाठी

लोक परम्परा, शांति वर्धन (जिन्हें प्यार से सभी शांति दा कहते थे) के लिए लोक के प्रति प्यार का प्रतिरूप थी और शास्त्रीयता लोक संस्कृति का पूर्ण-परिपाक। उनकी कला का विकास स्वतंत्रता-समर के दौरान हुआ था, इसलिए उनमें अजब सी बेचैनी थी जो भारतीय कलाओं की उपेक्षा या उसके विद्रूपीकरण से उपजी थी। इसलिए शांति दा ने नृत्य को अपना मूल कर्म ज़रूर बनाया लेकिन व्यवसाय नहीं। उन्होंने परम्परा से विच्छिन्न पीढ़ी को परम्परा से जोड़ने का काम ज़रूर किया, लेकिन रूढ़ियों से समझौता कभी नहीं किया।

इमोर्टल इण्डिया यानी अतुल्य भारत! इस प्रस्तुति ने भारतीय पहचान को पुनर्परिभाषित ही नहीं किया, नृत्य-नाट्य के लिए नयी भूमिका का सृजन भी किया। ऐसी भूमिका जिसमें परंपरा की सुवास हो, पुनराविष्कार की क्षमता हो, जो विचारधारा से भी लैस हो और प्रथमतः और अंततः जन पक्षधर हो।

जन पक्षधरता की उनकी पृष्ठभूमि भी कम दिलचस्प नहीं है। शांति वर्धन 1927 में कोमिल्ला से कलकत्ता आये और अपने बड़े भाई धन दा के साथ रहने लगे। तब वे 10 वर्ष के शैतान बच्चे थे। जैसा समय था और इस किशोर की संवेदनशीलता का जो स्तर था, उसकी वजह से वह सहज ही क्रांतिकारियों के संपर्क में आ गया और उनकी गतिविधियों में हिस्सेदार बन गया। ज़ाहिर है कि स्कूली पढ़ाई से उसका ध्यान हटता गया। आठ-दस महीने तक क्रांतिकारियों के लिए काम करने के बाद शांति गिरफ्तार कर लिया गया। उस पर चोरी-छिपे क्रांतिकारी दलों को मदद पहुँचाने का संगीन आरोप लगाया गया। किशोर उम्र के होने के बावजूद 4 महीने सलाखों के पीछे काटने पड़े। पुलिस उससे क्रांतिकारियों के पते-ठिकाने, अड्डे तथा उनके नेतृत्वकारी साथियों के पते उगलवाना चाहती थी। लेकिन सभी संभव यातनाएँ देकर भी उसका मुंह नहीं खुलवाया जा सका। अलबत्ता इस सबका उसके स्वास्थ्य पर बहुत बुरा प्रभाव पड़ा। धन दा ने उसे वापिस कोमिल्ला भेजा दिया।

जेल की छाप लग जाने के कारण क्रांतिकारियों से संपर्क संभव नहीं रह गया था। वे पुलिस की निगाह में चढ़ चुके थे। लिहाज़ा उन्होंने छुटपन के पसंदीदा नृत्य के शौक में मन लगाया। वे कोमिल्ला से मणिपुर गये। वहाँ उन्होंने गुरु अंबुनी सिंह से 12 साल तक टिपेरा लोकनृत्य सीखा। अंबुनी इस विधा के संभवतः अंतिम गुरु थे। प्रशिक्षण के बाद शांति वर्धन छह महीने तक इसलिए एकांतवास में रहे क्योंकि वे विधा को अपनी तरह से आत्मसात करना चाहते थे। उनके दिमाग में पूर्वी बंगाल (अब बांगलादेश) की लोक-धुनें, मणिपुरी की लयकारी, लोकचित्रों, लोक कलाकारों की भंगिमाओं-मुद्राओं और प्रदर्शन क्षमताओं को कैसे अपनी विधा में समाहित करें - यह सब घुमड़ रहा था। वे बुनियादी तौर पर लोक संवेदी कलाकार थे- यह अक्सर गुल वर्धन और प्रभात गांगुली ने बताया। अंतर्राष्ट्रीय विज्ञान कांग्रेस में (कोलकाता 1938) में जब उन्होंने एकल नृत्य प्रस्तुत किया तो सारा नृत्य-जगत उनके कौशल, प्रतिभा और प्रयोगधर्मिता से चमत्कृत हुआ। हिरेन घोष ने उनकी टिपेरा नृत्य की अद्‌भुत प्रस्तुतियाँ देश भर में करवाईं। इस तरह उन्हें देशव्यापी पहचान मिली।

जैसा कि सब जानते हैं कि शांति वर्धन उदयशंकर के कनिष्ठ और घनिष्ठ साथी थे। सन 1940 में वे उदयशंकर के अल्मोड़ा स्थित कल्चरल सेण्टर से जुड़ गये। यहाँ उनका संपर्क कथकली के गुरु शंकरन नंबूदिरी और भरतनाट्यम के कंदर्म पिल्लई से हुआ। अंबुनी सिंह (मणिपुरी) से तो वे पहले ही प्रशिक्षण प्राप्त कर चुके थे। उदयशंकर का साथ और मार्गदर्शन उनके लिए नयी हवा के समान था।

Print to PDF without this message by purchasing novaPDF (http://www.novapdf.com/)

यहाँ शुद्धतावाद की जगह विविध शैलियों के समाहार की संभावना भी थी। दरअसल उदयशंकर ने 1930 में जो नयी शैली की खोज शुरू की थी, शांति दा ने उसे प्रेरक परम्पराओं में गूँथ कर आगे बढ़ाया। कपिला वात्स्यायन ने बताया कि उन्होंने आधुनिक भारतीय नृत्य के इतिहास में अपनी परिकल्पना की अनुपमता, नृत्य रचनाओं के प्रयोगों, देह गतियों और मंच की भाषा में नवोन्मेष के द्वारा ऐसे आयाम जोड़े जिन्होंने सार्थक प्रयोगधर्मिता के द्वार खोले।

शांति दा अगर आधुनिक समय की अति कल्पनाशील नृत्य नाटिकाओं में अग्रणी रहे तो उसके पीछे उनकी नृत्य-कल्पनाओं के अलावा जिस चीज़ का बड़ा हाथ रहा, वह थी मार्क्सीय दृष्टि। यह आकस्मिक नहीं था कि वे न सिर्फ भारतीय जन नाट्य संघ (इप्टा) से बल्कि कम्यूनिस्ट पार्टी द्वारा संचालित नृत्य शाखा ''सेण्ट्रल स्क्वॉड'' से भी संबद्ध रहे। परम्परा के पुनरुत्थानवादी रूझानों, सामंती रूढ़ियों को दर किनार करते हुए, लोक-आस्था को ठेस पहुंचाये बिना मिथक का जनमुखापेक्षी और रचनात्मक इस्तेमाल कैसे किया जा सकता है - यह उन्होंने बताया। चूँकि जिसे पारिभाषिक शब्दावली में इतिहास कहा जाता है, उसकी परम्परा भारत में चीनी यात्रियों के आगमन से पहले नहीं थी। इसलिये शांति दा ने भारतीय संस्कृति की द्वंद्वात्मक व्याख्या करते हुए समझ बनाई और नया रास्ता खोजा।

यह जानना कम दिलचस्प नहीं है कि उदयशंकर से अलग होने के बाद जब वे नयी राहों के अनुसंधान में जुटे थे तब कविवर सुमित्रानन्दन पंत ने उन्हें और अवनी दासगुप्ता को बम्बई ले जाकर भारतीय कम्यूनिस्ट पार्टी के महासचिव कॉमरेड पी. सी. जोशी से मिलवाया। कम लोग जानते हैं कि पंत जी और जोशी जी में आत्मीय संबंध थे। इसी के बाद वे इप्टा से और सेण्ट्रल स्क्वॉड से जुड़े।

लगभग यही समय था (1944) जब बंगाल भीषण अकाल की चपेट में आया। इससे निपटने के लिए जितनी सहायता की अपेक्षा थी - उसका पासंग भी ब्रिटिश हुकूमत पूरा नहीं कर रही थी। आस-पास से मिलने वाले जन सहयोग से भी काम नहीं चल रहा था। भारतीय कम्यूनिस्ट पार्टी ने इसके लिए राष्ट्र-व्यापी चेतना जगाने और सहायता जुटाने की योजना बनाई। वक्त के साथ काल का ग्रास बढ़ता जा रहा था। ज़िन्दगी की डोरें टूटती जा रही थीं। बहुत कम समय था। ऐसे वक्त में पार्टी की प्रेरणा से नृत्य-संगीत मय नाट्य रचना की चुनौती शांति दा ने स्वीकार की। बहुत कम समय में उन्होंने ''भूखा है बंगाल'' की दिलों को हिला देने वाली संरचना की। बंगाल पर शेष भारत की तटस्थता को तोड़ने में इस नृत्य-नाट्य ने ऐतिहासिक भूमिका निभाई। भूख की त्रासदी को, मृत्यु की हृदय विदारक छवियों से उन्होंने प्राय: नि:शब्द नृत्य-नाटिका में मर्मान्तिक संगीत के साथ गूँथा। पहली बार मंच पर कंकाल नृत्य देखकर बम्बई से पंजाब तक के हज़ारों दर्शक स्तब्ध हुए और बंगाल अकाल से निपटने के लिए मुक्त हस्त से दान दिया।

बेशक कला-विशेषज्ञों और कला-समीक्षकों के अनुसार यह प्रस्तुति शांति दा की रचनात्मकता का उत्कृष्ट नमूना नहीं थी। लेकिन इसे ख़ास मकसद के लिए, सीमित सृजन क्षमता के साथ भावोद्रेकी ढँग से बनाया गया था। जिस उद्देश्य के लिए ''भूखा है बंगाल'' तैयार किया गया था, उसमें अलबत्ता वह अपेक्षा से अधिक सफल था। कला का बड़ा प्रतिमान भले ही न गढ़ा जा सका हो लेकिन उसने शांति दा की संवेदनशीलता का परिचय सारे देश से करवाया और साधारण लोगों में से सैकड़ों उत्साही युवाओं को प्रेरक संदेश दिलवाया।

Print to PDF without this message by purchasing novaPDF (http://www.novapdf.com/)

इसी का प्रभाव था कि उन्हें नृत्य, गान, सितार, तालवाद्य जैसे रचनात्मक कामों के लिए युव-जनों की बड़ी टोली मिली। बेशक ये युवा प्रशिक्षित और निष्णात कलाकार नहीं थे। शांति दा ने मेहनत से इन्हें तैयार किया। उनके अनन्य साथी संगीतकार-कोरियोग्राफर अपुनिकर्ता ने एक जगह लिखा है कि टाँगों पर खडी कोई भी चीज उन्हें दे दीजिये, वे उसे नृत्य में बदल देंगे। अपुनि खुद वाम पक्षधर थे। उन्होंने लिखा है कि चालीस के दशक में उन्होंने बम्बई के रेड फ्लेग हॉल में उनकी कोरिओग्राफी और नृत्य निर्देशन का कमाल देखा था। साथी नृत्यांगनाएँ थीं- लीला सुंदरैया, (का. सुन्दरैया की पत्नी), दिनशा चारी (एडवोकेट ए.एस.चारी की पत्नी), दीना संघवी (जो बाद में दीना पाठक हुईं), शांता गांधी आदि। ये महिलाएँ प्राय: घरेलू या पार्टी एक्टिविस्ट ही ज़्यादा थीं। इनको ललित-नृत्य के मार्फत भाव-संवाद करते हुए देखना सुखद आश्चर्य था। जंगे आज़ादी के दौरान राष्ट्रीयता के ज्वार में नृत्य विधाओं का उत्कर्ष तो हो रहा था लेकिन था वह पुरानी बोतल में पुरानी शराब की मानिन्द ही। शांति वर्धन ने उसका सही अर्थों में पुनराविष्कार किया। इण्डिया इम्मोर्टल में जहां कलाओं के भारतीय स्वर्ण-युगीन गौरव के साम्राज्यवाद के हाथों दुर्दान्त पतन को विषय बनाया गया था, वहीं नयी नृत्य नाटिका ''द स्पिरिट ऑफ इंडिया'' को ज़मींदारी और सामंती शोषण के साथ औपनिवेशिक अत्याचारों पर केन्द्रित किया गया था। इसमें सांस्कृतिक, समाजार्थिक और आत्मनिर्भर भारत की तस्वीर उकेरी गई थी। इसका संगीत शांति वर्धन और अपुनिकर्ता ने तैयार किया था। आज़ादी से दो साल पहले 45 मिनट की यह साहसिक प्रस्तुति झिंझोड़ कर रख देने वाली थी। यह ''भूखा है बंगाल'' से बहुत आगे का कदम ही नहीं था, भारतीय बैले के विकास क्रम का अहम पडाव भी था। द्वंद्वात्मकता की दृष्टि ने शांति दा को समझा दिया था कि ऐतिहासकिता, सांस्कृतिक गौरव और सौन्दर्य चिंतन के बिना बात बनेगी नहीं। यह दृष्टि स्पिरिट ऑफ इंडिया में परिलक्षित होती है।

मुंबई के अँधेरी-इलाके में एक खुशरू लॉज हुआ करती थी। वहाँ 100 साल पुराना एक वट-वृक्ष था। बडा-सा उजाड़ बागीचा था, मगर आम और चीकू जैसे पेडों से भरपूर। कहते हैं वटवृक्ष के नीचे कुछ पैदा नहीं होता। **शांति वर्धन ने मगर भारतीय संस्कृति के वटवृक्ष का विदोहन करके अँधेरी के वटवृक्ष के नीचे भारतीय बैले के ऐसे रूपाकार गढ़े जो इतिहास-कला संस्कृति में मानक की तरह आँके गये।** खुशरू लॉज में शांति दा का कला-मण्डल निवास नहीं करता था। वहाँ कला-कम्यून का वास था। महाश्वेता देवी ने वहाँ के माहौल का वर्णन करते हुए कहा है कि यह कम्यूनिस्ट पार्टी की कम्यून पद्धति पर संचालित हो रहा था। एक परिवार की तरह। लविंग केयर और कठोर अनुशासन के साथ। खाने, बनाने, साफ - सफाई , विचार विमर्श सहित सभी चीज़ों में सब साझीदार थे। गुल वर्धन ने बताया कि हम सब साथ हँसे, लड़े, झगड़े और आगे बढ़े। किसी को लक्ष्य और विचारधारा के बारे में कोई भ्रम नहीं था। सबके अंदर आग थी, कुछ कर दिखाने की। एक आदर्श के लिए काम करने की। यही वह ग्रुप था जो इप्टा के अंतर्गत रह कर भी सीधे पार्टी के सेण्टर स्क्वॉड के लिए काम करता रहा। ''स्पिरिट ऑफ इण्डिया'' की स्पिरिट का सीधा संबंध पार्टी के साथियों की स्पिरिट और प्रोत्साहन से था।

मुख़्तसर यह कि सेण्ट्रल स्क्वॉड जन नाट्य संघ का केन्द्रीय ग्रुप बन गया। हालांकि इसका काम नृत्य और नृत्य नाटिकाओं तक सीमित था। शांति वर्धन इसके नृत्य निर्देशक थे। रवि शंकर को भी संगीत निर्देशन का काम सौंपा गया था। काम करने के लिए प्रशिक्षित कलाकारों के बजाय नये और प्राय: नृत्य-निरक्षर, लेकिन उत्साही लोगों की टोली जुटी। दिन-रात की मेहनत से शांति दा ने अपनी रणनीति बना कर नृत्य का जो स्वरूप तैयार किया उसमें लोक था, शास्त्रीयता थी, लोकचित्रों वाली चित्रोपमता थी, मिनियेचर पेण्टिग्स से उपजे दृष्यबंध थे।

इसके लिए उन्होंने तमाम पुस्तकालयों की खाक छानी। उन्होंने ऐसी घटनाएँ और प्रसंगों को चुना जो मुख्य विषय की ज़रूरत को पूरा करते थे। वो संदेश देना चाहते थे कि ऐतिहासिक, सामाजिक और आर्थिक ताकतों ने स्वतंत्रता की चाह को सिरजा है। सामाजिक न्याय उसकी सबसे बड़ी ज़रूरत थी। इसकी तैयारी में आद्य इतिहास, प्राचीन इतिहास, मध्यकालीन और आधुनिक इतिहास के सूत्रों का कलापक्ष से दस्तावेजीकरण किया गया। नृत्य की नव्य शैली में शास्त्रीयता और लोक तत्वों के साथ आधुनिकता का भी संमिश्र था। ऐतिहासिक काल प्रवाह वहाँ था।

Print to PDF without this message by purchasing novaPDF (http://www.novapdf.com/)

कंपोजीशन, विजन, स्टाइल, फॉर्म सब में नयापन था। इन्हीं चीज़ों से तैयार हुए-स्पिरिट ऑफ इण्डिया और इम्मोर्टल इंडिया। प्रख्यात नृत्यविद् कमला देवी चट्टोपाध्याय ने कहा है -भारत आज़ादी की देहलीज़ पर था और शांति वर्धन का काम गर्व और स्वतंत्रता की चेतना के विस्तार को नये रूपाकार दे रहा था।

बाल रंगमंच के लिए उल्लेखनीय अवदान देने वाली रेखा जैन अपने पति नेमिचन्द जैन के साथ कलकत्ता से बम्बई आईं थीं। कलकत्ता की पार्टी इस सांस्कृतिक-इकाई को मदद पहुँचाना चाहती थी। बंगाल, जापान की बमबारी झेल चुका था। अकाल झेल रहा था। ज़रूरत जनता की सहायता की थी। हमारे ट्रुप ने गुजरात, महाराष्ट्र, पंजाब से काफी धन जमा किया। वे कहती हैं कि उन्हें शांति दा की शिष्या होने पर गर्व है। उनकी शिक्षा के कारण ही वे बाल रंगमंच का संचालन कर पायीं।

रेखा जी ने भोपाल में शांति दा पर हुए सेमीनार में बताया कि 1943 में इप्टा का गठन हो चुका था। उदय शंकर ग्रुप बिखर चुका था। भारतीय कम्यूनिस्ट पार्टी के महासचिव कामरेड पी.सी. जोशी सेण्ट्रल बैले ट्रुप के लिए सहमत हो गये थे। इसके लिए मैं कलकत्ते से चुनी गयी थी। शांति दा ने किस तरह नृत्य दल को गढा, इस पर उन्होंने विस्तार से बात की थी। शांति दा में बेहतर को बेहतर से बेहतरीन बनाने का जुनून था। उनके प्रशिक्षण में कोई शैथिल्य नहीं था। शारीरिक व्यायाम की क्लास, नृत्य-मुद्राओं की क्लास, पद-संचालन की क्लास, यहां तक कि नृत्य के विषय और राजनीतिक-समाजिक-आर्थिक मुद्दों पर विचार-विमर्श की क्लास। शांति दा कोई कोना खाली नहीं छोडते थे। विश्राम उनके लिए जैसे था ही नहीं। ''आराम हराम है'' के नारे को वे सही तरह से जीते और चरितार्थ करते थे। संगीत, वाद्य संगीत की क्लास पहले विनय राय लेते थे, शुरू में अवनिदास गुप्ता ने प्रशिक्षण दिया बाद में रविशंकर संगीत निर्देशक हो गये। हमें रानु दा, उस्ताद अलाउद्दीन खाँ, सचिन शंकर और लोक-संगीत, लोकनृत्य के शीर्षस्थ गुरुओं से बहुत कुछ सीखने को मिला। सब कुछ इतना वैविध्यपूर्ण कि आरंभ में किसी दिशा का बोध नहीं होता था। हमें पता नहीं था कि हम किस शैली में काम कर रहे हैं। **दरअसल नृत्य की किसी घिसी-पिटी लीक पर वे चला भी नहीं रहे थे हमें। उनकी नृत्य संरचनाओं और नृत्य नाटिकाओं पर किसी स्कूल विशेष की छाप नहीं थी।**

जीवन पाणि उन्हें यों ही दृश्य-कवि नहीं कहते थे। यह टिप्पणी उनके आकार-प्रकार या व्यक्तित्व पर नहीं थी। उनका छोटा-सा कद था, गहरा साँवला रंग, घने-घुंघराले बाल ! प्रथम दृष्टि वे महान कलावंत लगते भी नहीं थे। ऊपर से अतिशय विनम्र और बहुत ही कम बोलने वाले। ख़ामोशी में भी दृश्य-बिम्बों की रचना होती रहती थी। शास्त्रीय परम्परा में नाटक को दृश्य काव्य कहा जाता है। शांति वर्धन तो अनुपम दृश्य-बंधों के सृष्टा थे। उन्हें इसीलिए जीवन पाणि विजुअल पोइट कहते थे। वे मानते हैं कि जहाँ तक कल्पनाशील नृत्य संरचनाओं का संबंध है, शांति दा ने उदयशंकर को पीछे छोड़ा है। शांति वर्धन ऐसे स्वप्नदर्शी थे जिन्हें सपनों को सच बनाना आता था। वे मंच पर केवल चाक्षुष इन्द्रजाल ही नहीं रचते थे, उसमें वैचारिक बेचैनी भी भरते थे। उनका मानना था कि मिथकीय चरित्रों को इतिहास में सीमित नहीं करना चाहिये। मिथ को इतिहास मात्र के चश्मे से देखना गलत है। इतिहास केवल अतीत में जीता है, मिथक भूत-वर्तमान-भविष्य में संचरण करता है। शांति दा पर चर्चा के दौरान कवि राजेश जोशी ने उत्तेजित हो कर यह टिप्पणी की थी।

इम्मोर्टल इंडिया और स्पिरिट ऑफ इण्डिया के बाद उनकी अगली महत्वपूर्ण रचना थी - डिस्कवरी ऑफ इण्डिया। यानी भारत की खोज। यह जवाहरलाल नेहरू की इसी नाम की प्रसिद्ध ऐतिहासिक कृति का नाट्य-प्रस्तुतिकरण था। इसे शांति दा ने इण्डियन नेशनल थियेटर की ओर से नई दिल्ली में आयोजित एशियाई रेलेशंस कान्फ्रेस (1947) में प्रस्तुत किया था। इसे अपार प्रशंसा मिली। स्वयं नेहरू ने लिखा कि नृत्य-नाटिका डिस्कवरी ऑफ इंडिया की प्रस्तुति का समग्र प्रभाव मेरी पुस्तक की तुलना में कहीं ज़्यादा और गहरा है।

चतुर्दिक प्रशंसा के बीच भी शांति दा प्रस्तुति से पूर्णत: संतुष्ट नहीं थे। उन्होंने ''इंडियन रिनेसां आर्टिस्ट'' द्वारा आयोजित देश-व्यापी दौरे से पहले प्रस्तुति में कई सुधार किये और तुलनात्मक रूप से उसका अधिक प्रभावक्षम संस्करण तैयार किया। इसे देश भर में प्रदर्शन के दौरान अभूतपूर्व सफलता मिली। इंडिया इम्मोर्टल के बाद डिस्कवरी

Print to PDF without this message by purchasing novaPDF (http://www.novapdf.com/)

ने कला-क्षेत्र में सबसे ज़्यादा हलचल पैदा की। दरअस्ल यह दो स्वप्न दृष्टाओं का कलापूर्ण सम्मिलन था। इसमें शांति दा ख़ुद ब्रिटिश आर्मी के क्रूर सिपाही और ड्रमर की भूमिका में थे। छोटी भूमिकाओं में भी वे भारी प्रभाव छोडते थे। सितार वादक के रूप में बाद में कीर्तिलब्ध हुए रविशंकर इस नृत्य नाटिका में हेड मैकेनिक की भूमिका निभा रहे थे। प्रभात गांगुली ने इसकी प्रकाश-परिकल्पना, व्यवस्था और संचालन तो किया ही था, एक बर्तानवी शोषक और महात्मा बुद्ध की भूमिका भी निभाई थी। कई किरदारों को गुल वर्धन ने भी मूर्त किया था। किसी नये शायर का एक शेर याद आ रहा है - **वे तो सोते हैं सिर्फ ख़्वाब में जाने के लिए/मैं तो जागता रहा हूँ ख़्वाब सजाने के लिए कबीर की तरह शांति दा भी अपने सपनों को मूर्त करने के लिए रातों जागे और रोये हैं।** इस अनथक शारीरिक और मानसिक श्रम ने उन्हें बीमार कर दिया। वे उस समय असाध्य कहे जाने वाले रोग टीबी के शिकार हुए। उनकी रचनात्मकता को जैसे नज़र लग गयी थी। 1949 में जब वे कोलकत्ता गये तो उनकी बीमारी विकराल हो चुकी थी। उन्हें किसी तरह घेरघार कर शिमला हिल्स सेनीटोरियम कसौली में भरती कराया गया। जहाँ वे लम्बे समय रहे। टी.बी. का इलाज भी तब क्रूर था। प्रभावित पसलियों को काट कर अलग कर दिया जाता था। शांति दा की कई पसलियाँ काट डाली गयीं। लम्बी बीमारी के चलते वे बहुत अशक्त लेकिन भीमकाय रूप में बेड़ौल हो गये।

इस परिस्थिति में वे गहरे अवसाद में चले गये। इस बीच ग्रुप बिखर चुका था। कलाकार इधर-उधर हो गये थे। सेण्ट्रल स्क्वॉड समेट लिया गया था। सचिन शंकर, अपुनिकर्ता , प्रेम धवन, विनय रॉय, दशरथ लाल, अबनी दासगुप्ता, शांता गांधी, गुल, पंडित रविशंकर, नरेन्द्र शर्मा, रूबी, दीना संघबी (पाठक), रेखा जैन, रेवा (विद्यार्थी), बलराज साहनी आदि का तीन साल चला कम्यून छिन्न हो गया था। शांति दा ने ख़ुद को बिस्तर की सिलवटों में कैद कर लिया था। वे मुश्किल से खडे हो पाते। नृत्य करने का तो सवाल ही नहीं था। कुछ नया रचने की हूक उठती तो अपनी असमर्थता का ख़याल कर और निराश हो जाते। भयानक आर्थिक तंगी थी। सिने अभिनेता बलराज साहनी ने स्क्रीन में 3 सितम्बर, 1954 को एक लेख लिखा था ''ब्रेव फाईटर फोर आर्ट - शंतिवर्धन नीड्स फ्रेंडस सपोर्ट''। इसका प्रभाव यह हुआ कि मित्र मदद के लिए आगे आये। उनमें देवानंद, चेतन आनंद, किशोर कुमार, उषा किरण, भारत भूषण, शेख अब्बास, उमा भट्ट, विमल रॉय, प्रेम धवन, मीना कुमारी, अभि भट्टाचार्जी, निरूपा राय, मोहन सहगल, अमर कुमार, राजेन्द्र सिंह बेदी, उषा खन्ना, मजरूह सुल्तानपुरी आदि शामिल थे। स्क्रीन ने सहायता की एक अपील दिलीप कुमार, नासिर खान, राजकपूर, नरगिस, अशोक कुमार, दुर्गा खोटे आदि के नाम से जारी की। स्क्रीन के फिल्मी पाठक शांति दा की रचनात्मक ऊँचाइयों से वाकिफ़ नहीं थे। उन्हें ''राही'' और ''बादवान'' फिल्मों के होली और मछेरों के नृत्यों की याद दिलाई गई - जिनका निर्देशन शांति दा ने किया था।

महत्वपूर्ण यह नहीं है कि कितनी मदद मिली, महत्वपूर्ण यह है कि एक जन-कलाकार के साथ मुंबई का कला जगत जुडा और सामने आया। इस सब से पहले स्प्रिट ऑफ इंडिया के सर्जक की नयी स्पिरिट बन कर आगे आयीं- पुरानी साथी गुल ! पार्टी की नृत्य शाखा के और साथी भी थे। गुल, लेकिन रोज जातीं। उनमें उत्साह भरतीं। अधूरे सपनों की याद दिलातीं। इंडिया इर्मोटल के ज़माने से जो ख़्वाब उन्होंने रामायण को लेकर देखा था उसकी याद ताजा करतीं। उन्होंने अंतत: शांति दा को नयी रचना के लिए राजी कर लिया। शांति दा में, बांगला मुहावरे में कहें तो भीषण सहन शक्ति थी, नृत्य के प्रति संपूर्ण समर्पण का भाव था, वैचारिक पुख़्तगी थी, गहरी मानवीय दृष्टि थी और थी सृजन की विलक्षण क्षमता।

आरंभ में बंगाली लोक नृत्य गजान, चतुरंग, भज लीला, रूमाल, शिवशंकर आदि छोटी-छोटी रचनाओं से नयी शुरूआत हुई। 20 जनवरी, 1952 को शांति दा, अपुनिकर्ता, दशरथ लाल, गुल, दो एक लोग और साथ ही 2 पालतू कुत्ते और 187 रूपये नगद। इस सरमाये के साथ नयी संस्था लिटिल बैले ट्रुप का जन्म हुआ। अंबु भाई शेठ ने धोबी तालाब के पास श्रीराम मंदिर परिसर में एक जगह उपलब्ध कराई। पहली प्रस्तुति 26 जनवरी, 1953 को दामू झवेरी के सौजन्य से हुई। प्रभावी प्रस्तुति के बाद सहायता की अपील पर धन संग्रह तो बहुत हुआ, लेकिन नये काम के लिए वह पर्याप्त नहीं था। गुल चूंकि गुजरात के खाते-पीते घराने से थीं , सो वह किसी तरह इंतज़ाम करतीं। साथ ही काम का आग्रह और दबाव बनाये रखतीं।

शांति दा के मन में रामायण के मिथक के इस्तेमाल का विचार था। इस पर बहुत बार बात हुई। रामायण बैले की परिकल्पना को थके व्यक्ति का पुनरुत्थानवादी विचार तक मित्रों ने जोश में कह दिया। लेकिन शांति दा खामोशी

Print to PDF without this message by purchasing novaPDF (http://www.novapdf.com/)

से मुस्कराते। बड़ा प्रोजेक्ट था। बड़ा संभावित खर्च था। साधन लगभग शून्य। शांति दा मगर किस्म-किस्म की राम कथाओं, रामलीलाओं, राम कथा आधारित लोक नृत्यों को स्मृति में संजोते रहे और राम कथा विषयक ग्रंथों से जूझते रहे। **प्रगतिशील मित्रों को उन्होंने समझाने की कोशिश की कि यह युगों-युगों से लोक को प्रेरणा देने वाला आख्यान है। केवल घटना प्रधान ढंग से इसे प्रस्तुत नहीं किया जायगा। इस कथा को नये युग बोध से जोड़ा जायगा।** उनके स्वास्थ्य के मद्देनज़र लोग असहमत होकर भी सहमति जताते और मदद करते। यहां बड़ी चुनौती यह थी कि कलाकार छोटे थे और कथा बड़ी। कार्य संवहन कैसे हो? शक्ल-सूरतें भी ऐसी नहीं कलाकारों की कि उन्हें राजसी संदर्भ में प्रस्तुत किया जा सके। तभी उनके मन में कठपुतली शैली का विचार कौंधा। उन्हें लगा यह शैली तो बच्चों से बुज़ुर्गों तक सबको पसंद आयेगी। इस पर महीनों काम चला। बलराज साहनी इससे ख़ासे खफ़ा थे। वे कहते थे कि कठपुतलियों के जर्की मूवमेण्ट्स से बैले की गति प्रभावित होगी और मुखौटों के प्रयोग से भाव संप्रेषण संभव नहीं होगा। शांति दा मगर पाषाण में अहिल्या-प्रभाव पैदा करना चाहते थे।

दिलचस्प यह है कि इसका संगीत राम के वन गमन के साथ-साथ देश-प्रदेश के हिसाब से बदलता चलता है। उत्तर-दक्षिण, पूरब-पश्चिम सब जगह के लोक और शास्त्रीय संगीत का प्रयोग अबनि दासगुप्ता और बहादुर खाँ ने शांति दा के परामर्श से किया। शांति दा शास्त्रीय और लोक-कलाओं की पद्धतियों के जानकार थे। एक दिन उन्होंने एक पंजाबी रसोइये से पंजाबी गीत सुना। इसके साथ ही रामायण में हीर को शामिल करने का विचार बना। अयोध्या के दृश्यबंध बुनते वक्त उत्तर भारतीय संगीत और पंपापुर तथा दक्षिण में बदल कर स्थानीय लोक और कर्नाटकी संगीत। रामायण बैले एक तरह के भारतीय संगीत की समुच्चयवादी प्रस्तुति भी बनी। असम, मणिपुर, ओडिशा को अलग से वेश विन्यास से पहचाना जा सकता है।

वेश विन्यास की बात आयी तो यह गौर करने लायक है कि जिस बैले को दुनिया का सबसे रंगीन या रंगा रंग बैले माना जाता है, उस रामायण बैले के अधिकांश परिधान दान से मिले टाट को रंग कर, उन पर कशीदेकारी की शैली से रेखांकन कर बनाये गये हैं, जो मंच पर हर हाल में राजसी से ज़्यादा राजसी नज़र आते हैं। मुखौटों में सबसे बड़ी दिक्कत थी। एक दिन प्रभा शाह ने शांति दा को जैन मिनियेचर पेण्टिंग्स की एक पुरानी किताब दिखाई। जिसमें चौखूटे और आयताकार मुखौटे थे। फिर क्या था। सोवियत पत्रिकाओं के मोटे कवर्स पर मलमल चिपका कर आवश्यकतानुसार राजपूताना, चमोली, पहाडी कलम के ढँग से राम-सीता-हनुमान सहित तमाम चरित्रों के रूपाकार उकेरे गये जो आज भी सबको चकित करते हैं। बैले के गीतों की रचना दशरथ लाल ने की। दशरथ विधिवत कवि नहीं थे। ट्राम के ड्रायवर, ट्रेड यूनियनिस्ट और कम्यूनिस्ट थे। सरल-संप्रेष्य भाषा में गीत रचना करके उन्होंने बैले को नया अंदाज़ दिया। तुलसी की चौपाइयों तथा संस्कृत के छन्दों का इसमें भरपूर इस्तेमाल है। गांधी के प्रिय भजन रघुपति राघव राजाराम को भी इसमें शामिल किया गया है।

सीमित और काष्ठीय गतियाँ। एक ही भाव और रंग में प्रस्तुत मुखौटे। यानी ऐसा नाट्यशास्त्र के शास्त्रीय सिद्धांत के अनुसार कुछ नहीं जो मिथ का साधारणीकरण कर सके। लेकिन शांति दा ने रामायण में काष्ठ की कला को अहल्या से अधिक वाचाल और कारुणिक बना कर दिखा दिया। आरंभ एक मेले के दृश्य से है। इसमें देश के सभी प्रांतों के लोग शामिल हैं। आनन्दोत्सव चल रहे हैं। वहीं कठपुतली का खेला चल रहा है। दृश्य कुछ ऐसा चमत्कारी है कि मेले के दर्शक कठपुतली रामायण के पात्रों में ख़ुद को देखने लगते हैं और रामायण बैले आंध्रप्रदेश के पट परिवर्तनीय पद्धति से चल पडता है।

रामायण बैले अपनी निष्पत्ति में भारत की एकता, अखंडता, सार्वभौमिकता, प्रभुसत्ता और सांस्कृतिक-भावनात्मक एक्य के प्रभाव छोड़ता है। इसकी प्रथम प्रस्तुति देख कर बलराज साहनी दौड़कर शांति दा के पास गये और बोले मैं अपना सारा विरोध, सारे शब्द वापिस लेता हूँ और आपसे क्षमा याचना के साथ कहता हूँ कि अपने जीवन में इतना कलात्मक, सामयिक और मिथकीय चरित्रों के ज़रिये समकाल को अभिव्यक्ति देने वाला बैले मैंने नहीं देखा। सरोजिनी नायडू ने लिखा है कि मैं स्पिरिट ऑफ इण्डिया और रामायण बैले देख कर चमकृत हुई। वहां रंगों का इन्द्रजालिक कौतुक था। संगीत की वैविध्यपूर्ण कल्पनाशील तरंगें थीं। पुरातन कथ्य को नये परिवेश में प्रस्तुत करने

Print to PDF without this message by purchasing novaPDF (http://www.novapdf.com/)

की संकल्पना के साथ-साथ जन सामान्य को, सांस्कृतिक रूप से समृद्ध करने और इतिहास-परंपरा का भान करने का महत्वपूर्ण उपक्रम था। मुझे लगता है कि उसकी असंदिग्ध सफलता हर भावक के समर्थन की अधिकारिणी है।

यह कम महत्वपूर्ण नहीं है कि शांति दा का यह बैले 1964 में ''बैले ऑफ सेंचुरी'' के ख़िताब से नवाज़ा गया। कम्यूनिस्ट पार्टियों की आलोचना मीडिया में परम्परा विरोधी, संस्कृति विरोधी आदि कह कर सतही ढँग से होती रहती है लेकिन जिन्होंने शांति दा के बैले या नृत्य प्रस्तुतियाँ देखी हैं वे कह सकते हैं कि विचारधारा कलाओं के परिष्कार में कितनी मददगार होती हैं। कला के कौशल के साथ दृष्टि जुड़ती है तो उसका प्रभाव पीढियों पर पड़ता है और उनमें चेतना भरता है। विचारधारा किस तरह कथ्य और रूप को परिपक्व, अर्थवान, सामाजिक और सर्व समावेशी बनाती है। इप्टा और सेण्ट्रल स्क्वॉड की भूमिका नि:सन्देह प्रेरणादायी रही है। विविध कलाओं के उन्नयन और उन्हें नव आयाम देने में इस आन्दोलन की बड़ी भूमिका रही है।

पंचतंत्र शांति दा की अंतिम संरचना थी। इसे अचानक झपट्टा मारकर ले गयी मौत ने पूरा नहीं होने दिया। मेडीकल साइंस को जिस तरह माइकल एंजिलो की पेण्टिंग्स ने मदद पहुँचायी है, शांति दा के पंचतंत्र ने उसी अंदाज़ में मनुष्य को, ख़ासतौर पर नर्त्तकों-नृत्यांगनाओं को परिन्दों, जीव-जंतुओं, जानवरों की गतियाँ और जीवंत भंगिमाएँ सौंपी हैं। चिड़ियों की उडान, उनका आकाश से नीचे उतरना, उनका प्रसन्न होना, दुखी होना, आह्लादक व्यवहार, दीगर परिन्दों से संवाद-सरोकार, हिरण कूद, मेंढक कूद, कछुआ चाल, मगर गति, खरगोश छलांग, चूहों का चौकन्नापन, आदि इतने प्रामाणिक ढँग से पंचतंत्र के किरदारों के अभिनय में अवतरित होते हैं कि विश्वास ही नहीं होता कि यह 'रामायण' के रचयिता की रचना है। रामायण में जहाँ चौकोण और अग्रगामी कोरियोगाफी थी, वहीं पंचतंत्र में पुष्प की तरह मुकुलित होती ऊर्ध्वमुखी नृत्य संरचनाएँ। आनन्द और कौतुक से भरी हुई। रंगों का प्रयोग ऐसा कि प्रकृति से एकाकार लगे। इस बैले के तीन चौथाई भाग पर शांति दा काम कर गए थे। एक चौथाई छूट गया था। उनकी लीक पर चलकर अपुनिकर्ता ने उसे पूर्ण किया। यह बैले भी पुराने पंचतंत्र को नए अर्थ देने और भारत की पुनर्खोज की कोशिश थी।

हालांकि रामायण और पंचतंत्र ने शांति दा के चिर प्रस्थान के बाद चीन, यूरोप, ऑस्ट्रेलिया, दक्षिण अमेरिकी देशों में अपनी गहरी छाप छोड़ी। ईसप की लोक कथाओं को जानने वालों ने पंचतंत्र को भी जाना और सराहा। सुशील दासगुप्ता और कला समीक्षक सुनील कोठारी का मानना है कि शांति दा को देश और विश्व स्तर पर प्रसंशा तो ख़ूब मिली लेकिन उतनी नहीं, जितनी के वे हकदार थे।

बृजेन्द्रचन्द्र वर्धन के घर 8 जून, 1916 को जन्मे उनकी दूसरी पत्नी हीरा प्रभा के छोटे पुत्र शांति वर्धन की २ सितम्बर, 1969 को कला-यात्रा समाप्त हो गई। नृत्य-आलोचक और कलाविद् मोहन खोखर कहते हैं कि वह दुनिया में अकेले ऐसे कोरियोग्राफर हैं, जिनकी प्रस्तुतियाँ मृत्यु के इतने साल बाद आज तक जारी हैं। रामायण की पहली प्रस्तुति का यह साठवां साल है, यह आश्चर्य जनक है। जितने साल से यह बैले चल रहा है उतनी उम्र तो दुनिया में किसी बैले ग्रुप की भी नहीं है।

शांति दा की मृत्यु के तत्काल बाद गुल ने श्रद्धांजलि सभा में अचानक सार्वजनिक रूप से घोषित किया कि वे आज से शांति वर्धन की पत्नी की तरह जानी जायेंगी। दरअसल गुल ने शांति दा से मृत्यु के ठीक पहले कोर्ट में शादी कर ली थी। यह प्रेम विवाह से ज़्यादा एक ज़िद विवाह था। उस समय लोगों ने भावुक होकर कहना शुरू किया था कि गुल ने शांति के रक्त से अपनी माँग भरी है। ज़ाहिर है गुल, गुल से गुल वर्धन हो गईं और उनकी संस्था आज भी जीवित है। शांति वर्धन के बाद कोरियोग्राफी का भार उनके अल्मोड़ा कालीन सहयोगी प्रभात गांगुली ने लिटिल बैले ट्रुप के लिए ता-उम्र वहन किया। ग्वालियर में लिटिल बैले ट्रुप के एक पुराने मित्र अज्ञेय ने कहा कि आपकी बैले रचनाओं के मयार के हिसाब से इसके नाम में रंगश्री जुड़ना चाहिये। तब से यह संस्था रंगश्री लिटिल बैले ट्रुप के नाम से जानी जा रही है।

शांति दा की परम्परा में कालिदास कृत मेघदूत पर अपुनिकर्ता, वासक रास पर बाबू सिंह ने, क्षुधित पाषाण, भैरवी, मधुशाला, पशुतंत्र, स्वरबिंब, सुभाषचन्द्र बोस, चक्रव्यूह प्रभात गांगुली ने, रवीन्द्र नाथ ठाकुर कृत मुक्तधारा पर नरेन्द्र शर्मा ने, आकारों की यात्रा पर बंसी कौल ने तथा महाभारत पर गुलवर्धन ने बैले तैयार किये। संस्था के लिए राघवन वारियर, कृष्णचन्द्र नायक, गिरीश मोहन्ता, चन्द्र माधव बारिक ने भी बैले तैयार किये।

भोपाल में आज शांति मार्ग की दो एकड़ भूमि पर रंगश्री लिटिल बैले ट्रुप की रंग-भूमि है। वह मार्ग शांतिवर्धन के नाम पर ही है। दिलचस्प है कि महाश्वेता देवी ने अपना चौथा बंगला उपन्यास शांति वर्धन और गुल वर्धन के कला प्रयत्नों, प्रेम संबंधों और विचारधारा पर केन्द्रित कर लिखा है उसका नाम है - मधुरै मधुर। काश यह कलात्मक माधुर्य देश को शांति दा और कुछ बरस दे पाते।

Print to PDF without this message by purchasing novaPDF (http://www.novapdf.com/)

रंगमंच और सिनेमा के मशहूर अदाकार
राजीव वर्मा से **रंग संवाद** की विशेष वार्ता

रंगकर्म सुधारना है तो अनुदान की व्यवस्था बदल दो

केवल दो-चार लोग कुछ लाइनें रट कर नाटक कर लें, यह थियेटर नहीं है... रंगमंडल और ब.व. कारंत से बड़ी आशायें थीं लेकिन मैं इसके स्वरूप से सहमत नहीं था। थियेटर मूवमेंट यह नहीं है कि रंगमंडल बना दीजिये और कर्मचारी बना कर दुनिया भर में नाटक करवाइये। आखिर इसका वही हश्र हुआ जो हमने सोचा था... मेरा दिल कभी भी भारत भवन से नहीं जुड़ा... भोपाल में नाटक तो बहुत हो रहे हैं लेकिन इनमें गुणवत्ता नहीं है... अनुदान यहाँ के नाटकों को बिगाड़ रहा है... प्रस्तुतकर्ता और दर्शक के बाद मीडिया तीसरा पहलू है लेकिन यह थर्ड एंगल आज नदारद है... फिल्मसिटी बनाना जैसे हर प्रदेश का फैशन हो गया है। हर सुबा यही चाहता है। लेकिन मैं मध्यप्रदेश में फिल्म निर्माण को लेकर कोई भविष्य नहीं देखता। फिल्मकार भोपाल से भी सामान समेटकर एक दिन चल देंगे। हम भोपाल को मुंबई नहीं बना सकते... बहुत जल्द ही भोपाल में उतना वक्त दूँगा जितना आज मुंबई को दे रहा हूँ। मैं थियेटर में पूरी तरह से इन्वाल्व रहना चाहता हूँ...

रंगमंच की बनती-बिगड़ती सूरत और सीरत के साथ अपनी ख्वाहिशों के बदल जाने या पूरा न होने की बेशुमार कसकों के साथ रंगकर्मी और सिने अदाकार राजीव वर्मा रंग-संवाद से बातचीत में पेश आये। गुजिश्ता दौर के पन्ने खुले तो मौजूदा हालात भी बयां हुये, आने वाले कल के इरादे भी रोशन हुये।

साक्षात्कार ▸ पंकज शुक्ला

राजीव जी, मैं अपने पाठकों को आपकी कला यात्रा से रूबरू करवाना चाहता हूँ। सहज जिज्ञासा है कि यह कैसे प्रारम्भ हुई? रंगमंच करने के भी पहले रुचियों का निर्माण कैसे हुआ?

बड़ी पुरानी बात है। लंबी यात्रा है। बचपन में जो देखा, मन पर उसका असर हुआ। उसी को करने की इच्छा जागृत होती रही। ऐसा नहीं कह सकते कि हम बचपन से बड़े कलाकार थे या समझ रखते थे। हां, ऑबजर्वेशन और इंटरेस्ट क्रिएट होने वाली बात है तो उसके पीछे बहुत से कारण पाता हूं। पहले ध्यान नहीं दिया लेकिन अब सोचता हूँ तो पाता हूँ कि ये कारण रहे होंगे। जैसे बचपन में हम मंडीदीप गांव जाते थे। वहाँ सालाना रामलीला देखने का बड़ा अजीब अनुभव था। अचंभा भी होता था कि गाँव के लोग दिन में रिहर्सल करते थे और शाम 4,5 बजे से मेकअप होता था। सब कुछ फेसिनेटिंग था। पुराने अंदाज़ का मेकअप गेटअप, रेशमी कपड़े, मूँछें, सिर पर मुकुट। शाम को रामलीला होती। बाँस पर लपेट कर पर्दा लगाया जाता। उस पर दृश्य होते थे। कौतूहल होता था कैसे कर लेते हैं। 8,10 साल की उम्र रही होगी। हमारे पिता भोपाल में एडवोकेट थे लेकिन शनिवार-इतवार मंडीदीप में ही बिताते थे। उन दिनों दशहरे दीपावली की लंबी छुट्टियां होती थी। ये छुट्टियां वहीं बिताते थे। रामलीला को देख रुचि जागृत हुई। वहाँ के कलाकार जैसे सूर्पणखा गाँव का ही एक पुरुष बनता था। वहाँ के पहलवान परशुराम बनते थे। गाँव के काका, बाबा अलग अलग भूमिका निभाते। रामलीला करने वालों को लोग अलग नज़र से देखते थे। अलग श्रद्धा आदर मिलता था। यह बड़ा फेसिनेटिंग था कि जो मंच पर काम करते थे उन्हें अलग सम्मान मिलता है। बचपन से ही दिलोदिमाग में था कि ऐसा करने से लोग पहचानते हैं। लोकप्रिय हो जाते हैं। इसके बाद गणेशोत्सव स्कूल के कार्यक्रमों में छोटी-छोटी चीज़ें करने लगे। स्कूल में नाटक करने या वाद विवाद में भाग लेने से प्रभाव बढ़ता गया। पिता एडवोकेट थे तो उनकी किताबें पढ़ता रहता था। मुझ पर मेरी माँ का भी प्रभाव पड़ा है। वो पढ़ने की बड़ी शौकीन थीं। जैसा मुझे बताया गया, उनके पिता ने उन्हें दहेज में सिर्फ किताबें और एक हारमोनियम दिया था। उनकी लाइब्रेरी में बंकिम बाबू, रवीन्द्र नाथ, शरतचन्द्र आदि की किताबें थीं।

कॉलेज में आया तो वहाँ भी कार्यक्रम में भाग लेता। उन दिनों रेडियो नाटक का बढ़ा चलन था। कुछ अलग पहचान बनाने की कोशिश की तो आकाशवाणी में ड्रामा वाइस बन गए। युववाणी में कम्पेरिंग का मौका मिला। कुछ कह नहीं सकता कि उन दिनों थिएटर को पहचानता था। शाम को यह हमारा पास टाइम था। भाग्य की बात है कि हमें यह टाइम पास मिला। फिर तो जैसे यह शौक हो गया कि सब मिल कर इकट्ठा हों और नाटक करें। हालांकि इसमें कोई पैसा नहीं मिलता था, बल्कि अपना खर्च ही होता था। ये मेरी थिएटर की समझ होने तक की यात्रा है।

वो कौन सा वक़्त था जब आपने शौकिया रंगमंच शुरू किया?

मुझे ज्ञात नहीं है कि वो शौकिया रंगमंच था या कुछ और। हम कभी-कभी सुनते ज़रूर थे कि महाराष्ट्र समाज में कुछ नाटक होते हैं या जनसम्पर्क विभाग में भाऊ खिरवड़कर जी का नाट्य दल हुआ

Print to PDF without this message by purchasing novaPDF (http://www.novapdf.com/)

1972 में मेरी नौकरी लग गई। शाम को जल्दी फुरसत हो जाते तो इकट्ठा होकर नाटक करते थे। इसी दौरान मध्यप्रदेश कला परिषद ने विज्ञापन दिया कि कोई थिएटर पर्सन बव कारंत के मार्गदर्शन में एक थिएटर वर्कशॉप का आयोजन होना है। हमने भी दो-चार दोस्तों के साथ फार्म भर दिया। इत्तेफाकन हमारा चयन भी हो गया। इसे मेरे थिएटर का जीवन की गंभीर शुरूआत मान लीजिए। समझ में आया कि थिएटर असल में होता क्या है!

करता था। उसे देखने का मौका मिलता था। एक बार की बात है भोपाल में बडा चर्चा हुआ कि मुंबई से नाटक आया हुआ है। मुझे साफ-साफ याद है ओम शिवपुरी का नाटक था 'कंजूस' उसके टिकट घर-घर जा कर बेचे गए थे। मेरे पिता पुराने भोपाल के जाने-माने लोगों में से थे। माननीय शरदजी स्वयं टिकट बेचने आए थे। तब से लगातार नाटक देखा करते थे। 1965 में एमएसीटी में आर्किटेक्ट विभाग में दाखिला लिया था। कॉलेज के सेकण्ड ईयर से नाटक करने का सिलसिला शुरू हो गया था। 1972 में मेरी नौकरी लग गई। शाम को 5, 5.30 बजे फ्री हो जाते तो इकट्ठा होकर नाटक करते थे। इसी दौरान म.प्र. कला परिषद ने विज्ञापन दिया कि कोई थिएटर पर्सन बव कारंत हैं, उनके मार्गदर्शन में एक थिएटर वर्कशॉप का आयोजन किया जा रहा है। यह दो-तीन माह की थी। हमने भी दो-चार दोस्तों के साथ फार्म भर दिया। इत्तेफाक की बात है कि हमारा चयन भी हो गया। इस मेरे थिएटर का जीवन की गंभीर शुरूआत मान लीजिए। वहां से समझ में आया कि थिएटर असल में होता क्या है। केवल दो-चार लोग इकट्ठे हो कर लाइन रट कर नाटक कर लेना ही थिएटर नहीं है। इसका नशा, शौक और ललक अलग ही चीज है। सही अर्थों में मेरी रंगयात्रा यहाँ से शुरू हुई। कारंत ने दो माह में हमें निर्देशन, मेकअप, स्टेज, क्राफ्ट, कास्ट्यूम, एक्शन की जानकारी दी।

कार्यशाला में दो नाटक तैयार किए गए। एक तो शंकर शेष का 'एक और द्रोणाचार्य' और राजस्थान के एक लेखक का 'मन मधुकर'। तीन शॉर्ट प्ले किए गए जिनमें मोहन राकेश का 'छतरियाँ' तथा उपेन्द्र कुमार अग्रवाल का 'कुड़े का पीपा' शामिल है। शॉर्ट प्ले का मंचन कला परिषद की छत पर किया गया। वर्कशॉप और नाटक करने का वह अलग ही अनुभव था। क्राउड को कैसे ह्यूमन कर्टन की तरह इस्तेमाल करना, आवाज़ का इस्तेमाल किस तरह म्यूजिक की जगह करना, कास्टयूम, सेट डिजायनिंग सीखाई गई। कार्यशाला में कपिला वात्सायन, राममूर्ति, प्रेमा कारंत आदि भी आए थे। यहां से हमें शौकिया रंगकर्म का चस्का लगा और हमने संस्था बनाई 'रंग शिविर। इसी कार्यशाला में रीता भादुड़ी (अब पत्नी) से मुलाकात हुई। बाद में हमने तीन शार्ट प्ले और एक नाटक किया 'पंछी ऐसे आते हैं।' इसमें कारंतजी का अद्‌भुत प्रेजेंटेशन स्टाइल था। हम समझते थे कि मेकअप, सेट डिजाइन, सेट में बदलाव जैसी सारी चीजें पर्दे के पीछे होना चाहिए और दर्शकों को इनका आभास नहीं होना चाहिए। लेकिन कारंत ने अजीब प्रयोग किया। नाटक में मेरा मेकअप चेंज होता है, हीराइन रीता का मेकअप बदलता है, सेट बदलता है लेकिन सबकुछ दर्शकों के सामने। काला गाऊन पहने एक मेकअप मेन आता है और दर्शकों के सामने मेरा मेकअप बदल देता है। यह बड़ा फेसीनेटिंग था कि ऐसा भी संभव है। दर्शकों के लिए भी यह अचंभा था। ये सारी चीजें देखने के बाद थिएटर को लेकर व्यक्ति का परसेप्शन ग्रेजुअली चेंज होता है।

इस दौरान कुछ संस्थाओं का निर्माण भी हुआ?

हाँ। कुछ समय बाद मेरा तबादला इंदौर हो गया। वहां 'संवाद' नामक संस्था बनाई। तब तक मैं और रीता पति-पत्नी हो चुके थे। वहां विजय तेंदुलकर का नाटक 'सखाराम बाइंडर' किया। इसके लिए एनएसडी के ज्योति स्वरूप को बुलाया था। वर्कशॉप का आयोजन किया जिसमें नई दुनिया के संपादक राजेन्द्र माथुर, राहुल बारपुते जैसे कई बडे लोगों ने शिकरत की। फिर मेरा तबादला भोपाल हो गया। यहाँ नाटक के साथ अन्य कार्यक्रम करता रहा। फिर इकबाल मजीद की अध्यक्षता वाली संस्था 'दर्पण' के साथ जुड कर नाटक किए। थिएटर में अकसर बौद्धिक झगडे बहुत होते हैं तो ग्रुप बनते रहे, बिगडते रहे।

Print to PDF without this message by purchasing novaPDF (http://www.novapdf.com/)

रंगमंडल की स्थापना के समय तो आप उससे जुडे थे?

1982 में रंगमंडल की स्थापना हुई। कारंत यहाँ निदेशक बन कर आए। उस समय हमें रंगमंडल से जोडा गया। हमें रंगमंडल से बडी आशाएँ थीं लेकिन हम इसके स्वरूप से सहमत नहीं थे। मुझसे जब राय ली गई तब मैंने सुझाव दिया था कि इसके बदले राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय की तर्ज पर कोई स्कूल प्रारम्भ करना चाहिए ताकि थिएटर को अपना कॅरियर बनाने का इच्छुक प्रदेश का टेलेंट यहां प्रशिक्षण ले और वही रंगमंडल में काम करे। हमारे यहाँ यही सबसे बडी खराबी है कि व्यक्ति विशेष की पसंद-नापसंद से जो भी शासकीय या अशासकीय संस्था बनती है, वह व्यक्ति विशेष के जाने के बाद बिखर जाती है। उसके कायदे-कानून तो होते नहीं है, व्यक्ति की पसंद-नापसंद से सबकुछ चलता है। हालांकि इतना बजट था कि आराम से नाट्य विद्यालय खोला जा सकता था। तब तो बात सुनी नहीं गई और अब दो साल पहले नाट्य विद्यालय की स्थापना की गई।

इस बीच कारंतजी को कुछ सूझा या मेरे ख्याल से किसी न किसी प्रेशर में थे जो उन्होंने कहा कि शौकिया रंगकर्मियों को लेकर कुछ काम करते हैं। उन्होंने प्रेमचंद का नाटक 'कर्मभूमि' किया जिसमें कलाकार सारे शौकिया रंगकर्मी थे और तकनीशियन उनके रंगमंडल के कर्मचारी। लेकिन इसके बाद खासतौर से मेरी तो रंगमंडल से दूरी हो गई।

रंगमंडल के आगे शौकिया थिएटर क्यों नहीं टिक पाया?

रंगमंडल का बजट ज्यादा था, संसाधन ज्यादा थे। उनके सामने कोई शौकिया रंगकर्म क्या टिकता? जो चंदा कर नाटक करता था, टिकट नहीं बिकते, पैसे नहीं, संसाधन नहीं, प्रशिक्षण नहीं वह कैसे टिकता? उस दौरान पांच साल में जो शौकिया रंगकर्म खराब हुआ वही असली थिएयर मूवमेंट था। थिएटर मूवमेंट यह नहीं है कि रंगमंडल बना दीजिए और कर्मचारी बना कर दुनिया भर में नाटक करवाइए। पैसे देकर देश भर के अच्छे लोगों को बुला कर काम करवाइए। इससे प्रदेश का तो कुछ भला नहीं होना और वहीं हुआ तो हमने सोचा था। हम लोगों को कुछ सहायता नहीं मिली। रंगमंडल में कुछ केजुअल आर्टिस्ट भर्ती कर लिए। उनसे करवाते रहे। हालांकि ये जरूर हुआ कि रंगमंडल के कारण भोपाल का नाम हो गया। जाहिर है देश भर के लोग आते थे तो भोपाल की गहमा-गहमी में इज़ाफा हुआ। इतना ज़रूर हुआ की देश भर में हमारी पहचान बनी।

रंगमंडल से दूरी के बाद क्या हुआ?

मैं अपने नाटक करता रहा। उसी समय मैंने संस्था या थिएटर कंपनी 'भोपाल थिएटर' बनाई और मेरे शौक के लिए काम करता रहा। पैसा मिल जाता था, ब्रोशर छाप लेते थे। उसी दौरान नेशनल टीवी शुरू हुआ। मैं अपना पोस्ट ग्रेजुएशन करने सरकार की तरफ से दिल्ली गया हुआ था। वहाँ 'चुनौती' सीरियल का प्रस्ताव मिला। हम तो सरकार के नौकर थे। कहा गया कि यह नौकरी के एक्सटेंशन की तरह ही है। उसके बाद कई प्रस्ताव मिलते रहे।

मुंबई की यात्रा पर कुछ देर बाद सवाल करूंगा, पहले यह बताएँ कि कारंत के भोपाल आने का क्या कोई फायदा भी हुआ?

फायदा तो निश्चित हुआ। ये तो आप कह नहीं सकते कि फायदा नहीं हुआ। उनका मप्र आना ही बड़ी बात थी। उनके साथ जुड़े प्रबुद्ध नाटककार यहाँ आते रहे। उनकी सोच, उनकी दृष्टि के साथ दूसरी चीजें जुडी होती हैं। रंगमंडल और उस सबका असर यह हुआ कि भोपाल में साल भर में कई आयोजन होने लगे। हमारा दर्शक हिन्दुस्तान भर में मशहूर है। यहाँ के थिएयर करने वालों की तो बात छोड़ ही दीजिए जो बाहर से नाटक करने आते हैं हमेशा कहते हैं कि ऐसे दर्शक हमने कहीं नहीं देखें। हालांकि ये संख्या में कम हैं।

हमारे यहाँ सबसे बड़ी खराबी है कि व्यक्ति विशेष की पसंद-नापसंद से जो भी शासकीय या अशासकीय संस्था बनती है, उस व्यक्ति के जाने के बाद बिखर जाती है। उसके कायदे-कानून तो होते नहीं है, उसी की पसंद-नापसंद से सब कुछ चलता है। हालांकि इतना बजट था कि मध्यप्रदेश में आराम से नाट्य विद्यालय खोला जा सकता था। तब तो बात सुनी नहीं, और अब दो साल पहले नाट्य विद्यालय की स्थापना की गई।

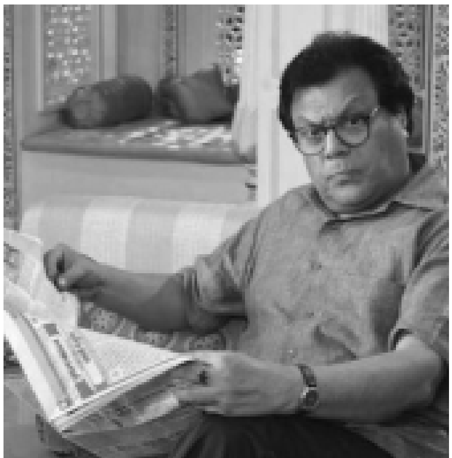

Print to PDF without this message by purchasing novaPDF (http://www.novapdf.com/)

आपको ऐसा नहीं लगता कि नाटक बहुत हो रहे हैं लेकिन उनमें गुणवत्ता की कमी है?

नहीं है नाटकों में गुणवत्ता। मैं यह समझता हूँ कि हमारे यहाँ के नाटककार बाहर के नाटक देखते हैं लेकिन देखने के बाद कुछ ग्रहण नहीं करते। उन्हें बहुत सी चीज़ों से इतना प्रेम हो जाता है कि प्रस्तुति के बाद ज़रूरी होने पर भी उसे हटाते नहीं है। नए नाटक बहुत ही कम तादाद में होते हैं। नाटक बहुत लंबे और उबाऊ होते हैं। बहुत सी बातों को जो हम एक-दो वाक्य में कह सकते हैं उसके लिए पूरा एक पैराग्राफ बोला जाता है।

दूसरी चीज़ यह कि निर्देशक अपनी पूरी खूबी या काबिलियत एक ही नाटक में प्रदर्शित करना चाहते हैं। हर भाषा के नाटकों के दर्शक बहुत बढ़ गए हैं। उनमें से कई ऐसे हैं जो फूहड़ता पसंद करते हैं। पसंद करना अलग बात है, इसके लिए मनोरंजन के दूसरे साधन हैं। थिएटर को केवल मनोरंजन न बनाएं। हँसाना है तो यह नहीं कि फूहडता परोस दी जाए। मैंने कई नाटककार देखें है जो एक ही नाटक को सिंधी में भी कर देंगे, हिन्दी में भी और किसी और भाषा में भी। नाटक तीन घंटे का है और कोई दो घंटे का मांग रहा है तो वे दो घंटे का भी कर देंगे। एक घंटे का मांगा तो एक घंटे का हो जाएगा।

तीसरा, अनुदान नाटक को बिगाड़ रहा है। अनुदान लिया है तो शर्त है कि इतने शो करना होंगे। इतने नाटक करना है तो दर्शक भी चाहिए। कुछ टिकट लेकर आ जाएं, कुछ को बुला लिया। सारा खर्चा तो अनुदान के रूप में मिल गया है। टिकट बिकता है या नहीं बिकता, इस बात से कोई फ़र्क नहीं पड़ता।

क्या इसीलिए बेहतर दर्शक वाले शहर में भी कोई टिकट खरीदना नहीं चाहता?

पहले टिकट खरीदना अनिवार्य था। यहां तक कि स्वयं अशोक वाजपेयी टिकट खरीदते थे। ये प्रथा हमको ऊपर से शुरू करना होगी। अनुदान मिला हो कि न मिला हो, टिकट तो लेना होगा। अभी तो पैसा मिला है। आमंत्रण भेज देते हैं। आदमी आता है। बीच में खाँसेगा, खखारेगा। तबीयत नहीं लगी तो उठ कर चल देगा। बीच में मोबाइल अलग बजेगा। क्यों? दर्शक की भी तो कोई भागीदारी होना चाहिए। टिकट से पूरा खर्च नहीं निकल पाता लेकिन इससे एक तरह का इंवाल्वमेंट होता है।

एक और जिज्ञासा है। कारंतजी, बंसी कौल और अलखनंदन की त्रयी ने भोपाल के रंगकर्म को अपनी अलग पहचान दी। आप इनके बारे में क्या सोचते हैं?

कारंतजी से तो किसी का मुकाबला ही नहीं है। मेरे गुरु और बड़े पूजनीय हैं। मैं उनके बहुत करीब हूँ। मेरे बच्चे तो उन्हें कारंत नाना ही कहते हैं। वे मेरी पत्नी को बेटी भी मानते थे और गुरु शिष्य का नाता भी था। मैं उनके गाँव भी गया था और उनकी पत्नी प्रेमाजी मुझे बेटे जैसा मानती थीं। उनका किसी से मुकाबला नहीं कर सकते। मेरे लिए तो भगवान थे। बाकि उनकी व्यक्तिगत चीज़ें अलग हैं। उनका कोई मतलब भी नहीं है। वे जहाँ हैं वहाँ हैं। कारंतजी ने 'रजत रंग' किया था तो उसमें मप्र की ओर से शेक्सपीयर के 'किंगलीयर' की यक्षगान शैली में प्रस्तुति दी थी। उसका हिन्दी में नाम रखा था 'राजा पगला तीन बेटियां'। मेरी उम्र उस समय 33-35 की रही होगी लेकिन कारंतजी ने 80 साल के किंगलीयर की भूमिका करवाई। मेरी पत्नी और अशोक वाजपेयी की पत्नी मेरी बेटी बनी थी।

राजीव वर्मा के साथ रंग संवाद के संपादक विनय उपाध्याय, मीडियाकर्मी-कवि पंकज शुक्ला और वसंत सकरगाए

Print to PDF without this message by purchasing novaPDF (http://www.novapdf.com/)

आजकल सब तुरंत एक्टर बनना चाहते हैं। सीखने में किसी को कोई रूचि नहीं है। कई लोग रिकमंड करवाने मुंबई आते हैं। पूछते हैं कि क्या किया तो बताते हैं- फैशन किया है, कॉलेज में नाटक किया है लेकिन कुछ पढ़ा-लिखा नहीं है।

बंसीजी बहुत अच्छा काम कर रहे हैं। वे बहुत अच्छे तकनीशियन हैं और कास्ट्यूम, मेकअप, गेटअप में बहुत बढ़िया काम किया है। हिन्दुस्तान में इसके मुकाबले का काम नहीं है। बंसीजी के निर्देशन में मैंने काम भी किया है।

अलखजी हमारे प्रदेश के थे। हालांकि मैंने उनके साथ काम नहीं किया लेकिन स्टेट ड्रामा फेस्टिवल में वे जबलपुर से नाटक ले कर आते थे तब से ही परिचय था। उनके नाटकों में लोक नाट्य शैली परिलक्षित होती थी। वे खुद लेखक भी थे। उन्होंने बहुत काम किया है लेकिन मुझे उनके नाटकों में प्रोफेशनलिज्म की कमी लगती है। उनके नाटक बहुत लंबे होते थे। कंटेट कम होता था लेकिन नाटक लंबा हो जाता था। यह मेरी व्यक्तिगत राय है। उनमें कई बारीक चीजें कमाल की होती थीं।

मुझे कहीं से पता चला था कि भारत भवन में प्रवेश को लेकर आपकी कारंतजी से कुछ तकरार हो गई थी?

यह सवाल आप मत पूछिए। इसका कोई अर्थ नहीं है।

क्या भारत भवन से कभी आपका दिल का रिश्ता नहीं बन पाया?

भारत भवन से कभी लगाव हुआ ही नहीं, पता नहीं क्यों? 1981-82 में यह शुरू हुआ और 1984 में मैं दिल्ली चला गया। वहाँ 86 तक रहा। एक साल बाद मुंबई जाना हो गया। हालांकि इस दौरान नाटक करता रहा लेकिन शासकीय रंगकर्म से दूरी बनी रही। अभी भी में खास मुतासिर नहीं होता हूँ।

अब मुंबई यात्रा की बात करते हैं। पहली फिल्म 'मैंने प्यार किया' कैसे मिली और क्या भीतर ख्याल था कि यह फिल्म इतिहास रच देगी?

उस वक्त मेरा एक सीरियल चल रहा था 'मुजरिम हाजिर'। उसमें मेरा नेगेटिव किरदार था। पहले माह में चार एपिसोड हुआ करते थे तो चार-पांच दिन शूटिंग कर भोपाल लौट आते थे। एक बार जब मुंबई गया तो बताया गया कि राजश्री से फोन आया था और वे मिलना चाहते हैं। सूरज बड़जात्या से मुलाकात हुई। उन्होंने कहानी सुनाई और पूछा कि कैसी है? हालांकि मैं बिल्कुल इंट्रेस्टेड नहीं था। सरकारी नौकरी थी। मैंने सोचा कहाँ झंझट में पड़ना। मेरा फिल्मों में जाने का मन होता तो बहुत पहले चला गया होता। मैं कहानी पर क्या कहता, मुझे तो नाम ही पसंद नहीं आया था। ये क्या नाम हुआ 'मैंने प्यार किया'। नाम तो होना चाहिए जैसे दीदार, मझधार। प्यार किया तो किया होगा। मैं थोड़ा असमंजस में था कि पिता को रोल करूं या न करूं। उन्होंने कहा कि पिता का रोल तो है लेकिन यह दो दोस्तों की कहानी है। मैंने राकेश चौधरी को फोन किया। उसने भी कहा कि राजश्री अच्छा प्रोडक्शन है कर लो। मैंने हां तो की लेकिन छुट्टियों की चिंता थी। राजश्री का मैनेजर आया और बोला कि फीस तय कर लेते हैं। उसने 15 हजार रूपए कहा। मैंने नाराजी जताते हुए कहा कि ये क्या रकम है? कुछ सम्मानजनक होना चाहिए। उसने पूछा आप बता दीजिए। मैंने एक बहुत बडी रकम बताते हुए कहा कि इसके और 15 हजार के बीच होना चाहिए। वह मेरी बताई राशि पर तत्काल तैयार हो गया। एक मिनट में चेक ले आया। पैसे ठीक थे। मैंने कहा कि ये सब तो है लेकिन मैं तो भोपाल में रहता हूं। शूटिंग के दौरान कहाँ रहूँगा? उन्होंने कहा कि जहाँ आप कहेंगे वहाँ ठहरने और आने-जाने की पूरी व्यवस्था की जाएगी। दिल में कहीं-न-कहीं लगता है कि फिल्म में काम करें तो मैंने हां कर दी। इस तरह पहली फिल्म मिली। तभी उनका कास्ट्यूम डिजाइनर आया और कपड़े आदि के नाप ले गया। बाद में मुझे राकेश चौधरी के दफ्तर छोड दिया गया। राकेश को जब मैंने फीस के बारे में बताया तो वह चौंक गया। बोला कि ये इतना कंजूस प्रोडक्शन है और तुम्हे इतना पैसा दे रहे हैं, इसका मतलब है कि फिल्म अच्छी बनाना चाहते हैं।

शूटिंग का अनुभव कैसा रहा?

मुझे पता चला था कि ताराचंदजी बड़जात्या अपने पोते को प्रमोट करना चाहते थे। इसलिए फिल्म निर्माण के दौरान हर चीज का खूब ध्यान रखा गया। पूरी शूटिंग किसी फाइव स्टार होटल सी सुविधाओं में हुई। शूटिंग मेरे ऑफिस के सीन से शुरू हुई। पूरा एसी सेट था। जब ऊंटी में शूटिंग शुरू हुई तो बताया गया कि राज बाबू कह रहे हैं कि भाभीजी और बच्चे भी साथ चलेंगे। मैं संकोच में आ गया। उन्होंने मेरी बात समझ कर कहा कि पूरी व्यवस्था कम्पनी करेगी। बड़े प्यार से सभी का ध्यान रखा गया। फिल्म की शूटिंग खत्म हो गई। मैं अपनी नौकरी करने गया। फिल्म देखी भी नहीं थी। शूटिंग के बाद एक बार दिखाई थी लेकिन मैंने कहा-बहुत लंबी है। गाने भी बहुत हैं। फिर एक दिन

Print to PDF without this message by purchasing novaPDF (http://www.novapdf.com/)

अनुदान देने का स्वरूप बदलना होगा। अनुदान दे देते हैं और कहते हैं कि थिएटर करो। कौन, क्या कर रहा है, कैसा कर रहा है, देखने वाला कोई नहीं होता। पैसे दे कर फेस्टिवल करवा लिया, ये क्या बात है? इससे अच्छा तो सरकार कर ले।

प्रोडक्शन कंट्रोलर का फोन आया कि फिल्म देखी या नहीं। मैंने कहा कि क्या हुआ। वह बोला 'श्सर, फिल्म हिट हो गई।' फिर जब मुंबई गया तो मुझे, रीता और राकेश चौधरी को पत्नी के साथ फिल्म दिखाई गई। इस तरह फिल्म और काम मिलता रहा, लेकिन मेरी तबियत नहीं लगी। 1996 तक तो नौकरी में रहा पिर खूब काम आ गया पैसे भी इतने मिलने लगे कि नौकरी छोड़ दी। अब यही लगता है कि जो एक्टिंग मेरा शौक था वह मेरा प्रोफेशन बन गया और जो आर्किटेक्ट मेरा प्राफेशन था वह शौक बन कर रह गया।

फिर शौक और काम में कैसे संतुलन बना पाते है?

नहीं रहता है संतुलन। कहाँ हो पाता है। किताबें पढ़ता रहता हूँ।

भोपाल में रंग गतिविधियां बढाने की कोई योजना है?

हाँ, सोचा तो है। वर्कशॉप करूंगा। जरूरी समझूंगा तो स्कूल खोल दूंगा। कभी-कभी लगता है कि स्कूल की जरूरत नहीं क्यों यहां से कुछ नहीं हो सकता है। जिसको करना होता है वह मुबंई चला जाता है। यहाँ बेसिक ट्रेनिंग मिल जाए वहीं बहुत है। कुछ साल पहले हमने यह कोशिश की थी कि बच्चे यहाँ से समझदार हो कर मुंबई जाएं। लेकिन देखा कि आजकल सब तुरंत एक्टर बनना चाहते हैं। सीखने में किसी को कोई रुचि नहीं है। कई लोग रिकमंड करवाने आते हैं। पूछते हैं कि क्या किया तो बताते हैं, फैशन किया है, कॉलेज में नाटक किया है लेकिन कुछ पढ़ा-लिखा नहीं है।

आप अब भोपाल में किस चीज की जरूरत महसूस करते हैं? यानि क्या होना चाहिए?

सबसे पहले तो यही कि अनुदान देने का स्वरूप बदलना होगा। अनुदान दे देते है और कहते हैं कि थिएटर करो। कौन क्या कर रहा है, कैसा कर रहा है, देखने वाला कोई नहीं होता। पैसे दे कर फेस्टिवल करवा लिया, ये क्या बात है। इससे अच्छा तो सरकार कर ले। किसी को दे कर क्यों करवा रहे हो? अभी मात्रा तो बहुत है लेकिन गुणवत्ता नहीं है। कई मर्तबा तो दर्शक कहते हैं कि ये क्या हो रहा है। कई बार नए दर्शक या साथ के लोग आ जाते हैं और मजे लेते हैं। लेकिन इससे थिएटर के दर्शक खत्म हो जाएंगे। टीवी पहले ही सिर पर सवार है। आप देखिए, जब भी बाहर से कोई नाटक आता है, भीड़ जम जाती है। ऐसा क्यों? यह गंभीर विषय है। इस पर विचार होना चाहिए और बदलाव होना चाहिए।

फिल्मों और नाटक का चेहरा और चरित्र बदला है। आप क्या महसूस करते हैं?

मेरे हिसाब से फिल्में बेहतर होती जा रही हैं। मुंबई की यह विडंबना है कि फिल्में अच्छी बन रही है लेकिन थिएटर पहले के मुकाबले कम अच्छा हो रहा है। अब जो थिएटर हो रहा है वह पूरी तरह कमर्शियल हो गया है। केवल 10 प्रतिशत अच्छा थिएयर हो रहा है। फिल्में, भाग्य से, अच्छी बन रही है। विषय बदल गए हैं, स्टोरी बेस्ड, परपसफुल और सोश्यल मैसेज देने वाली फिल्में बन रही हैं। वो जो दस फीसदी बडी फिल्में कही जाती है, उनको छोड़ दीजिए। लेकिन बाकी फिल्में अच्छे विषयों पर बन रही हैं। ओएमजी फिल्में चल रही हैं इसका मतलब है कि दर्शक समझदार है।

मीडिया का भी चेहरा बदला है। अब वैसे आलोचक कला पत्रकार नहीं मिलते।

देखिए मीडिया तो किसी भूमिका में है ही नहीं। निन्यान्वे फीसदी रिपोर्टिंग है, कोई आलोचनात्मक भूमिका नहीं है। आखिर तक कोई रिपोर्टर नहीं रुकता। मुझे अच्छा नहीं लगता। आप बता ही नहीं रहे हैं कि क्या खामी थी। लिख देते है कि ये हुआ। अच्छा किया। सेट भी अच्छा था। लाइट भी अच्छी थी। बडा मजा आया। लोगों ने ताली बजाई। प्रस्तुतिकर्ता और दर्शक के बाद मीडिया तीसरा पक्ष है लेकिन यह थर्ड एंगल गायब है। थिएटर वालों से बात की। वे एक सत्र रखते हैं लेकिन नाराजी का ख्याल कर कुछ बोलते नहीं हैं। इसकी वजह से गुणवत्ता गिरी है। जरूरी है कि कलाकारों का परिचय देने की जगह 15 मिनट का समय दर्शकों को देना चाहिए ताकि नाटक पर अपनी बात कह सकें।

भोपाल में फिल्म सिटी की जरूरत महसूस करते हैं?

फिल्मसिटी बनाना जैसे फैशन हो गया है। हर राज्य अपने यहां फिल्म सिटी बनाना चाहते हैं। वो जैसे किसी अच्छा दिखने वाले को कहते हैं ना कि तुम तो हीरो जैसे लगते हो तो क्या सभी अच्छे लगने वाले हीरो बनने चले जाएँ? आम जनता में कोई भी अच्छा दिखने वाला न रहे? यही सोच फिल्म सिटी के मामले में भी है। भोपाल अच्छा है तो इसे भोपाल रहने दो। यह मुंबई नहीं बन सकता। ठीक है कि फिल्म

Print to PDF without this message by purchasing novaPDF (http://www.novapdf.com/)

हम कितनी फिल्मों में कितनी बार भोपाल की ताजुल मसाजिद, बड़ी झील, वीआईपी रोड दिखाएंगे? हर जिले में तो फिल्म सिटी नहीं बना सकते। मैं यहाँ फिल्म निर्माण में कोई भविष्य नहीं देखता। मैं समझता हूँ हम भोपाल को मुंबई नहीं बना सकते। ...तो इसे भोपाल ही रहने दो।

वाले आ रहे हैं। वे अपनी सुविधा के लिए आ रहे हैं। यहां सुविधाएं मिल जाती है, कुछ नई लोकेशन है। सरकार और प्रशासन का सहयोग तथा कम दाम पर सहायक कलाकार मिल जाते हैं। मुंबई के करीब है। फ्लाइट मिल जाती है। लेकिन ज्यों ही ओवर एक्सपोजर होगा, वे अपना सामान समेट कर चल देंगे। मुंबई की बात अलग है। वहां स्टुडियो है। सेट लगाए जा सकते हैं। हम कितनी फिल्मों में कितनी बार ताजुल मसाजिद, बड़ा तालाब, वीआईपी रोड दिखाएंगे? हर जिले में तो फिल्म सिटी नहीं बना सकते। जहां की जो खासियत है, वही बरकरार रहने दो। हाँ, भोपाल में अगर छोटा-मोटा टीवी का काम होता है तो वह करने दो। मैं फिल्म निर्माण में कोई भविष्य नहीं देखता कि फिल्म का कारोबार बढ़ेगा तो यहाँ का वातावरण बदलेगा या भोपाल का केरेक्टर कुछ अलग हो जाएगा। मैं समझता हूँ हम भोपाल को मुंबई नहीं बना सकते तो इसे भोपाल ही रहने दो।

भोपाल की महिला रंगकर्म के बारे में क्या सोचते हैं? क्या महिला रंगकर्म ने भी समग्र थिएटर की तरह तरक्की की है?

यहां काफी सक्रिय महिला रंगकर्मी हैं। एक जमाना था जब हम ऐसा नाटक खोजते थे जिसमें महिला पात्र न हो या कम हो। लेकिन इनदिनों काफी लोग काफी अच्छा काम कर रहे हैं। लेकिन समस्या वही है कि पहले टीवी और फिर फिल्म की ओर जाना चाहते हैं। मैं समझता हूँ कि फिल्म और टीवी में जबर्दस्त प्रतिस्पर्धा है। आजकल कई कलाकार वन फिल्म वंडर साबित हो रहे है। टीवी पर शोषण बहुत ज्यादा है। मुझे लगता है महिला रंगकर्मियों को स्थानीय स्तर पर जितना काम मिल रहा है, उसी में खुश रहें और जो भी इच्छा है, उसे पूरा कर लें। हाँ, थिएटर से जुड़ी दूसरी चीजें मसलन, पोस्ट प्रोडक्शन, कोस्ट्यूम, ग्राफिक्स, सेट आदि का काम, लेखन, स्टूडियो में एडिटिंग, निर्देशन आदि में अच्छे लोगो की बहुत कमी है। इसमें हाथ आजमाना चाहिए। अभिनय में बहुत सोच समझ कर जाएं।

क्या आपकी उडान देख कर रीताजी के मन में कभी ख्याल नहीं आया कि वे भी फिल्म या छोटे पर्दे का रूख करें?

हमारे मन में भी वो उड़ान नहीं थी। मैं खुद इस मूड में नहीं था। रीताजी वस्तुतरू शिक्षा से जुड़ी हैं। उनका रूझान पढाई□अकादेमी में ज्यादा है। हमारे बच्चे भी अलग प्रोफेशन में हैं। मैंने तो छोटे बेटे के लिए कोशिश भी लेकिन वह नहीं आया। ये तो अपनी पसंद की बात है। थिएटर में हमारे घर के सभी सदस्य शौकीन हैं।

भादुडीजी जैसे ससुर और अमिताभ बच्चन जैसे साढू का आपके कॅरियर पर क्या फर्क पडा? इसे सकारात्मक मानते हैं या नकारात्मक?

भादुडीजी अलग व्यक्ति थे। उनसे बहुत कुछ चीजें पाई और सीखी हैं। उनका मेरे बडे बच्चे पर बडा प्रभाव रहा है। बाकि कुछ भी नहीं है। कोई फर्क नहीं पडा। जो भी फर्क पडा वो भी कोई मायने नहीं रखता। मैं तो समझता हूँ नकारात्मक ही है।

भविष्य के लिए क्या योजनाएँ बनाई हैं?

बहुत जल्दी भोपाल में उतना समय गुजारूंगा जितना मुंबई में गुजार रहा हूँ। यह बहुत दिनों से कह रहा हूँ लेकिन कर नहीं पा रहा हूँ। वहां केवल काम की जरूरत जितना समय ही गुजारूंगा। थिएटर में पूरी तरह से इन्वॉल्व रहना चाहता हूँ। प्रोफेशन के लिए एक-दो बड़े प्रोजेक्ट करता रहूँगा। ये मेरी भविष्य की योजना है। हर किसी को अपना शहर अच्छा लगता है। इसी में सुख आनंद लेना चाहता हूँ।

कोई स्क्रिप्ट है जिस पर काम करना चाहते हैं?

मेरे पास दो प्ले हैं। बादल सरकार का 'कवि कहनी'। हालांकि बहुत पहले लिखा हुआ नाटक है लेकिन अच्छा व्यंग्य है। इस पर बहुत पहले काम शुरू किया था लेकिन कर नहीं पाया। दूसरा नाटक रीवा के लेखक योगेश त्रिपाठी का 'मुझे अमृता चाहिए' है। यह भोपाल में हो चुका है लेकिन मुझे बहुत प्रिय है। कुछ कहानियां पढ रखी हैं। उम्मीद है उन पर काम कर पाऊँगा।

Print to PDF without this message by purchasing novaPDF (http://www.novapdf.com/)

अब वे फ़क़ीर

नहीं आते!

-अजात शत्रु

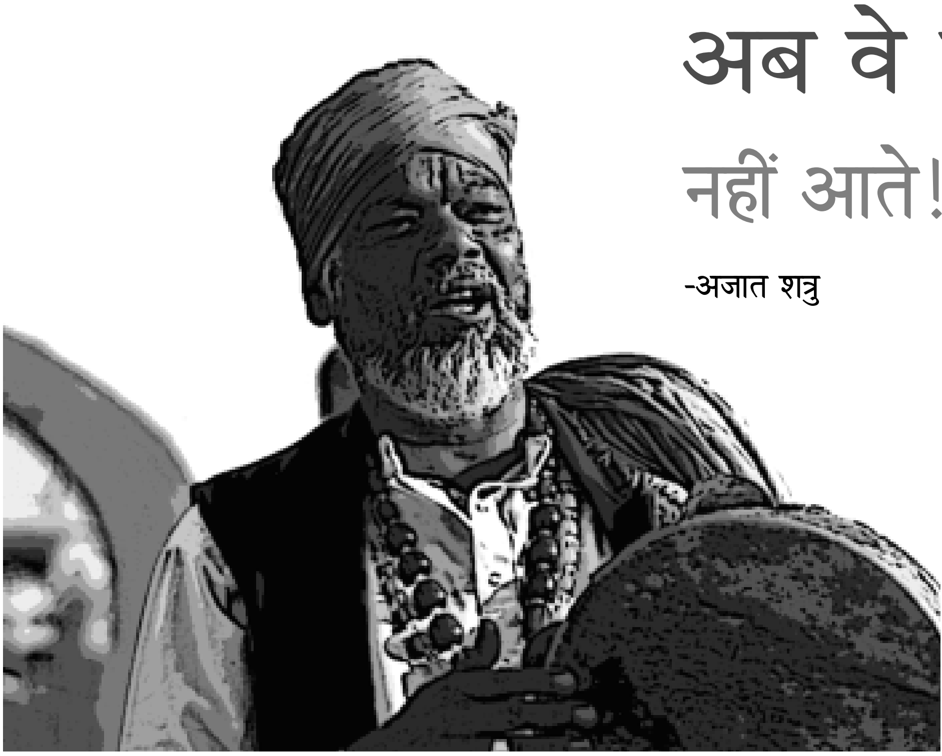

कितनी चीज़ें बदल गई हैं हमारे आसपास। हमारी नाक के नीचे, इस तरह धीरे-धीरे, कि हमें अहसास नहीं होता। बदलाव का यह अप्रतिहत प्रवाह बीच से कहीं विभाजित नहीं है कि हम कह सकें- हम इस दिन, इतने बजे, बदल गए। नहीं, हम सोते जाते हैं, उठते जाते हैं और बदलते जाते हैं। जागते हुए, इस लम्बी नींद में बदलते जाना और अपने परिवेश को बदलते चलना, एक अजीब-सा ख़ुश करता और डराता अनुभव है।

परिवर्तन की इस अविच्छिन्न, वैश्विक विकासधारा में हमने बहुत कुछ लाभदायक पाया है, तो बहुत-सा कीमती गवाँ भी दिया है। चिकित्सा क्षेत्र में अद्‌भुत तरक्की, यातायात और संचार के साधनों में रोमांचकारी क्रांति, संगीत के क्षेत्र में अंतर्राष्ट्रीय धाराओं का मेल, टी.वी. और सिनेमा की सूक्ष्मताओं-संभावनाओं में लंबी छलाँग, फिर ग्लैमरस, ग्रैंड सौंदर्य प्रतियोगिताएँ, टी.वी. और एडवरटाइजिंग में बड़े औद्योगिक घरानों की पहल, लाखों-करोड़ों के ईनाम, विदेश यात्रा और पंचसितारा होटलों के आतिथ्य की लपकौरी (लॉलीपॉप), हवाई जहाजों में शादी, फार्म हाउसों की पार्टियाँ, जींस पेंट, फास्ट फूड और आधुनिकता के नाम पर युवक-युवतियों का बेझिझक मेलजोल और जाने क्या-क्या! पर तथाकथित विकास के इन उड़ते पहाड़ों के बीच कुछ खो गया है। वह है दिल, कविता, संस्कृति, भावना, सामाजिकता और मनुष्य के निर्मल पारस्परिक संबंध। खो गया है- तो गाँव, लोकगीत, हरहराती नदियाँ, घने जंगल, सुबह की धूप और शाम के ढलते सायों में कविता को महसूसने की मानसिकता। ... बताने की ज़रूरत नहीं कि विकास के इन रंगीन मीना-बाज़ारों के पीछे आदमी सब कुछ पाकर भी पिछड़ गया है। कोई हसीन याद है जो खो गई है। वह एक विराट अस्पताल में खड़ा है जहाँ चमकदार कपड़ों में अंग्रेजी फटकारते, विज्ञापनी मुस्कराहटों के साथ अर्थहीन बातचीत करते, एक-दूसरे को प्रभावित करने के लिए बेज़ार, थके बीमार खड़े हैं। ये ठहाके लगाते हैं। पर उन्हें पता नहीं है कि ये हँस रहे हैं, क्योंकि ये दूसरों के लिए हँस रहे हैं और इस हँसने के पीछे हँसने जैसा कुछ नहीं। ये हाथ मिलाते हैं, गले लगते हैं, पर भीतर से उदास हैं- क्योंकि भीतर दिल के नाम का एक आदिम खिलौना ये बहुत पहले तोड़ चुके हैं, मेल मिलाप की ऊष्मा और मिठास चाहती है और सारी सियासती ख़बरदारी भूलकर एक-दूसरे में खो जाने का भरोसा चाहती है। आज हम उम्दा कपड़ों में, भूला-सा ठहाका लगाते हुए, गहरे बीमार हैं, जिनकी आत्मा को सांस्कृतिक क्षयरोग लग चुका है! भूसे से भरी कायाएँ, जिनके चेहरे पर बढ़िया से बढ़िया रंग पोत दिए गए हैं....! चलती फिरती स्वस्थ लाशें...! 'वेलफेड कॉर्प्सेज!!!'

खो चुकने की लिस्ट बहुत लंबी है। नॉस्टेलजिया भी उसी अनुपात में उतना बड़ा है। और तो और, भिखारी तक बदल गए! उनके गाए हुए बचपन के वे मुखड़े सुनाई नहीं पड़ते! हर शहर में, हर गाँव में, हर मोहल्ले में, इस देश की एक ख़ास सुबह होती थी, जो इस फ़क़ीरों के बैरागी गीतों से अध्यात्म का एक रंग ले लेती थी। हमें जीवन के असली मर्म की तरफ जगाती थी। हमें अचानक याद आ जाता था कि नहीं,

Print to PDF without this message by purchasing novaPDF (http://www.novapdf.com/)

दूसरे लोग भी हैं जिनके लिए हमें जीना है। अंधे गुरुर में अपनी आत्मा को भूल नहीं जाना है, जो इसलिए हमें मिली है कि अंततः हम बीच की तमाम दुनियादारी निभाकर सत्य के आलोक में मिल सकें और उसके लिए प्रयास करते रहें। अब वे फ़क़ीर नहीं। अब गाने की वे कड़ियाँ नहीं! मुँह अँधेरे ही कोई पहली खबर लाता है- 'कश्मीर में तेरह लोग मारे गए।'

शायद आप विश्वास न करें, पर सच यह है। मेरे लिए सच यह है कि इन फ़क़ीरों को, भिखारियों को इन दिनों मैं बहुत मिस करता हूँ। दिवंगत माता-पिता याद आते हैं, खोया हुआ बचपन और छूटा हुआ 'खंडवा' याद आता है, तो मन के वीराने में ये सुबह सँवारने वाले भी सरक आते हैं और कुछ पलों के लिए धूँ-धूँ जलते लाक्षागृह से मुझे बचा लेते हैं जिसका नाम आज का जमाना है।

सन् 50-52 का दौर। उम्र यही आठ-दस साल। तब मैं 'खंडवा' में रहता था। पिता रेलवे में मुलाज़िम। याद आता है, वह 'घासपुरा' मोहल्ला। रेल्वे कॉलोनी। सुबह-सुबह मैदान में जलती सिगड़ियाँ। उनका धुँआ कोहरे के साथ मिलकर लोक परलोक का अजीब आलम गढ़ता। 'आठ खोली' के पीछे चली मालगाड़ी की शंटिंग। घरों में बच्चे कुछ सोए और जागे, और चालियों के नल पर बर्तनों का लगातार!... तभी इस बीच थोड़ी दूर पर, हारमोनियम के स्वर उभरते और उसी के साथ एक बूढ़े फ़क़ीर की ये मार्मिक सतरें- 'तेरी गठरी में लागा चोर, मुसाफ़िर देख ज़रा।' माहौल एकदम बैरागी खामोशी में डूब जाता। सुबह अपना रुख बदल लेती। यह बूढ़ा 'धूनीवाले दादा' के आश्रम का कोई साधु था। उसके साथ दो-तीन युवा साधु और भी रहते। याद है भजन के बाद वह बाबा आवाज़ लगाता- 'दादाजी के बंदरों को आटे की सामग्री दो!' कभी-कभी वह डाँट भी देता, अगर कोई गृहस्थ देने के साथ इधर-उधर के तर्क दे बैठता। आज सोचता हूँ- चालीस-पचास साल बाद भी समर्पण और विनम्रता की हद थी उस साधु में। अपने को दादाजी का 'बंदर' कहता था! क्या यहाँ 'बंदर' का मतलब 'बंदर' है? नहीं-नहीं यह तो कविता का टुकड़ा है! समर्पित, भावपूर्ण, आत्मा ही इस शब्द को उपजा सकती थी, वरना शब्दकोश में तो वह मुर्दा पड़ा था और हर आदमी के जीवन के करीब था। और अब वह पंक्ति भी याद आती है- 'तेरी गठरी में लागा चोर।' वाह क्या अंदाज़े-बयाँ है भक्तकवियों का! सीधी-सादी भाषा, लोकजन से जुड़ी हुई, सरल, परिचित उपमा। अर्थात् तेरे जीवन की थाली नसी जा रही है। उसमें वासनाओं के चोर लगे हैं। जग में मात्र यात्रा के बतौर आने वाले जो अस्थाई यात्री, इसे समय रहते बचा ले। आज यह सादगी दुर्लभ है, क्योंकि अब न गाँव-खेड़े की सरल, सहज सभ्यता बची, और न वैसे 'हिन्दुस्तानी' संत और न वैसा माहौल! वह साधु, केवल भिक्षुक नहीं, हमारी सुबहों को सँवारने वाला... आध्यात्मिक घटक भी था! उसी तरह एक मराठा भिखारी आता था- बूढ़ा। एक लांग की धोती, माथे पर पगड़ी और एक हाथ में तंबूरा! वह तुकाराम के अभंग और ब्रह्मानंद के भजन गाता। गाते समय वह आँखें मूँद लेता और उसकी उँगली तंबूरे के तार को छेड़ती जाती। देखने में वह के.सी. डे के जैसा था और गाता भी उन्हीं की शैली में। 'साथी चलो गुरु के संग।' अम्मा कहती- 'जा, बाबा की मुट्ठी दे आ' और मैं लपककर जाता, दे आता! अब ऐसे 'मंगतश्री' नज़र नहीं आते! फिर, एक बात और। ज़रा यह तो बताइये कि भीख माँगने के साथ भजन गाने की प्रथा क्यों थी? पेट, आटे और धर्म में कार्य-कारण का ऐसा संबंध क्यों था? इसीलिए कि हज़ारों साल से धर्म, अध्यात्म और पारलौकिक आदर्श इस देश की जनचेतना से जुड़ा हुआ था। भिखारी को भीख देना चाहिए और भिखारी को परमात्मा का नाम सुनाकर भीख लेनी चाहिए; ऐसा अलिखित संबंध हिन्दू धर्म और इस्लाम में, स्वभावतः स्थापित हो गया था! तो संस्कृति की यह विरासत हमारी सुबहों को मात्र तथ्यात्मक सुबह से उठाकर पावन रस से सराबोर कर देती थी। अब भिखारी भीख माँगते तो दिखाई पड़ते हैं, पर भजन-वजन वे अक्सर नहीं गाते। उन्हें भजन याद भी नहीं हैं। 'ब्रह्मानंद भजनमाला' की वह छोटी-सी किताब (गुटका) जो सड़क- दर-सड़क बिकती नजर आती थी, अब सड़कों से गायब है। नई पीढ़ी के लिए अब यह मंगल ग्रह का अपरिचित आयटम है।

शायद आप विश्वास न करें, पर सच यह है। मेरे लिए सच यह है कि इन फकीरों को, भिखारियों को इन दिनों मैं बहुत मिस करता हूँ। दिवंगत माता-पिता याद आते हैं, खोया हुआ बचपन और छूटा हुआ 'खंडवा' याद आता है, तो मन के वीराने में ये सुबह सँवारने वाले भी सरक आते हैं और कुछ पलों के लिए धूँ-धूँ जलते लाक्षागृह से मुझे बचा लेते हैं जिसका नाम आज का ज़माना है।

कितनों को अब यह जानना अच्छा लगेगा कि स्वर्गीय मोहम्मद रफ़ी के सुप्रसिद्ध गीत 'तेरे कूचे में अरमानों की दुनिया लेकर आया हूँ' (फिल्म दिल्लगी) की तर्ज़ नौशाद साहब ने इसी ब्रह्मानंद के एक भजन से बनाई थी, जिसे रफ़ी के पहले उसी धुन में देश के भिखारी गाते थे।

Print to PDF without this message by purchasing novaPDF (http://www.novapdf.com/)

और... सन् 60-70 तक तो वह सूरदासी गीत भी रेलगाड़ियों में सुन पड़ता था- 'सुन ले जसोदा मैया, ऐसा तेरा कन्हैया।' इसे इलाहाबाद-भुसावल पैसेंजर में एक बुढ़िया गाती थी, जिसके साथ एक मैली-कुचैली बच्ची रहती थी। पहले बुढ़िया केले बेचती थी। पर बाद में जवान बेटा मर गया और दुनिया से चित्त उखड़ गया, तो वह भजन और भीख में उतर आई। तब लोग भी मात्र श्रोता नहीं थे। वे इस गीत को बुढ़िया से गवाते और कृष्ण की बाल-लीला की कल्पना में डूबकर भावुक हो जाते। बुढ़िया को जीविका के लिए भरपूर पैसा मिल जाता। अब वह बुढ़िया यकीनन मर चुकी है। और खंडवा-इटारसी के बीच वह गीत अरसा हुए... गुम हो चुका है।

'जागिए रघुनाथ कुँवर, पंछी बन बोले'- इस प्रभाती से ज़्यादा प्रचलित भजन भिखारियों और श्रोताओं के बीच, यहाँ तक कि मुस्लिम फ़क़ीरों के बीच भी कबीर के दोहे अथवा पद रहे हैं। उन्हीं दिनों 'खंडवा' में एक दरवेश आता था। कद में लंबा, बड़े-बड़े बाल, बदन पर हरा लबादा और हरी लुंगी (हरा रंग इस्लाम में शुभ माना जाता है, क्योंकि इस्लाम का जन्म रेगिस्तान में हुआ!) तथा हाथ में काला, लंबा कशकोल (भिक्षापात्र)। इस भिक्षापात्र के चारों तरफ, धागे में लाल रंग की गुरियाएँ लगी हुई थीं। तब दरवेश भिक्षापात्र को, गीत की लय के साथ गोल-गोल घुमाता तो रप् रप् की लच्छेदार आवाज पैदा होती। इसी कशकोल के साथ वह गाता- 'चुन चुन कंवर महल बनाया, लोग कहें घर मेरा है, ना घर मेरा ना घर तेरा, चिड़िया रैन बसेरा है।' यह दोहा कबीर का है और कबीर हिन्दू तथा मुस्लिम फकीरों में समान रूप से प्रिय रहे हैं। जब वह फ़क़ीर इन पंक्तियों को गाता तो हम बच्चे उसके आसपास खड़े हो जाते। 'चिड़िया' और 'रैन बसेरा' जैसे शब्द हमें बाँध लेते। तब भारत में जातिवादी और मज़हबपरस्त राजनीति का नामोनिशान न था। या यूँ कहें आम आदमी इसका शिकार न था! हिन्दू बस्तियों में भी मुस्लिम फ़क़ीरों को खुलकर मुट्ठी मिलती थी और उन्हें भी इन बस्तियों में जाने से हिचक नहीं थी।

अब तो भिखारी भी बदल गए। वे चल्लू सिनेमा गाना गाते हैं और रेलगाड़ी में जनता भी उन्हीं गानों को सुनना पसंद करती है। ये गाने आप सबको मालूम हैं। छोटे बच्चे, सीमेंट के पत्थर की टिकड़ियाँ बजाते-बजाते 'लगे पचासी झटके' गा जाते हैं, जबकि उन्हें गाने का अर्थ भी मालूम नहीं होता। लोग मज़ा लेते हैं और लापरवाही से कुछ दे-दुआकर बात करने भिड़ जाते हैं। अभी हाल तक सुना जाता हुआ 'गरीब की सुनो, वो तुम्हारी सुनेगा, तुम एक पैसा दोगे, तो वह दस लाख देगा' (संगीतकार रवि ने भिखारियों के ऐसे गाने काफ़ी कम्पोज किए) रेलगाड़ियों से गायब हो चुका है। उसकी जगह अब शान से सुन सकते हैं- 'बीड़ी जलाई ले', 'मुन्नी बदनाम होवे'। अपना अधुनातन भिखारी इसे शान से गाता है। 'पिंजरे के पंछी रे तेरा दरद न जाने कोय' पर कोई उसे भीख नहीं देगा।

यह अच्छा हुआ या बुरा हुआ? ज़माने के इस पतन को क्या कहा जाए? गहरी समझ यह है इस पर कोई टिप्पणी नहीं की जा सकती। ज्ञानी स्थितप्रज्ञ कहेगा- यह न अच्छा है, न बुरा है। इसे समभाव से देखो। यह विश्वप्रवाह है! इसमें सब शामिल हैं। पर ज़िम्मेदार कोई नहीं- 'क्योंकि विश्वप्रवाह सबके सर पर से आता है और उसमें लोग बहते रहते हैं। इसमें एक आदमी, एक संस्था का युग करार दिया जा सकता है। पर स्वयं विश्वप्रवाह का कोई कर्ता नहीं। इसे भगवान की लीला मानिए या बस यूनिवर्सल फ्लो। ...ठीक है। पर हर आदमी बुद्ध नहीं हो पाता। वह इंसान की निगाह से 'संपूर्ण' को तोड़कर देखने के लिए मजबूर है। इसलिए कचोट होती है। अफ़सोस होता है। तुलनाएँ और आलोचना खिंचकर आने लगते हैं। मैं इसी पाए का अदना इंसान हूँ। व्यर्थ ही सही, पर क्षोभ होता है। हम लुट भी गए हैं विराट तरक्की के इस दौर में। धर्म-अध्यात्म तो गए ही गए, बीच से संवेदनशीलता भी चली गई। अब कोई किसी के लिए नहीं रुकता। सड़क दुर्घटनाग्रस्त पड़े अजनबी को अस्पताल पहुँचाने के लिए किसी के पास वक़्त नहीं है और न रुचि। रेलयात्रा में किसी अनजान को चाय पिलाने का मज़ा है और लंबी यात्रा बिना ऊब के कट सकती है। पर क्यों पिलाएँ चाय? इसके खिलफ़ कन्विंस करना भी मुश्किल हो गया है। सुविधाएँ अपना-अपना तर्क ले आती हैं। कलम को कहाँ रोकूँ? पर रोकना तो है।

सो यहाँ रोकता हूँ- सुबहें तो अब भी आती हैं रामजी! पर उपनिषदों पर पुसे इस मूरख मन को अब सुनाई नहीं पड़ता- 'रहना नहिं देश विराना है! यह संसार कागद की पुड़िया बूँद पड़े गल जाना है।' अब वे फ़क़ीर नहीं आते!

Print to PDF without this message by purchasing novaPDF (http://www.novapdf.com/)

कौन सुनाए, कौन सुनेगा कथा मंजूषा की?

-देव प्रकाश चौधरी

लोक की सदियों पुरानी एक परंपरा है मंजूषा कला, जो गाती है आस्था के गीत और कहती है कथा

बूढ़ा आकाश कैलेंडर पर भरोसा नहीं करता। उसे लगता है, कल की बात है। सदियों से बह रही गंगा कुछ पल के लिए ही सही, यहां आकर ठहर जाती है। अंधेपन का एक से एक चेहरा देख चुके इस जनपद को आज भले ही अपने बीते कल में दिलचस्पी न रह गई हो, लेकिन इतिहास कविता बनकर अब भी गूंजता है यहाँ। अब भी बूढ़ी महिलाएं गाती हैं- मंजोसा लिखबे रे मलिया धरम कत्तारे रे। मंजोसा लिखबे रे मलिया तैंतीस कोट देव रे।।

तैंतीस करोड़ देवी-देवता! मंजोसा यानी मंजूषा। किसी गुणी आदमी से पूछिए, वे कहेंगे- ये उस जनपद का गीत है, जहां आस्था की नदी बहती रही है और उस नदी में जितने बूंद-उतने देवी देवता। बात यहीं खत्म नहीं होती। मंजोसा की भी कथा है। कथा तो होगी ही। इस जनपद के बीते कल की। इस जनपद में बह रही गंगा की। इस जनपद में आकर अक्सर ठिठक जाने वाले बूढ़े आकाश की। यहां के लोगों की। सदियों पुरानी एक कलात्मक गाथा को लय और आकार देने की। लेकिन आज यहाँ किसे फ़ुरसत है जो रुककर कथा सुने? फिर भी किसी न किसी घर से कोई न कोई आवाज़ बाहर निकलती ही है- बिषहर हर-हर बिषहरी माय।

कथा अंतहीन है। लोगों को यकीन न हो यह भी संभव है। लेकिन लोक में कुछ भी संभव है। यह लोक की ताकत है, जिसे हम और आप भी जानते हैं और यह जनपद भी। इसकी कथा जब शुरू हुई थी तो कुछ और थी, अब कुछ और है और आगे कुछ और हो जाएगी। फिर भी कथा है और इसे सुनाने वाले की यही इच्छा रहती है कि सुनने वाले धार्मिक विश्वास की, लौकिक आस्था की, वैज्ञानिक व्याख्या न करें। तो सुनिये कथा इस जनपद की....। कथा इस जनपद की यानी अंग जनपद की। किससे शुरू करें...यहां तक गंगा में बहकर आने वाले सूर्यपुत्र कर्ण से? गंगा में बहकर आने वाले अंधे, कामुक और विलक्षण कवि दीर्घतमा से, जिसे इतिहास ने महात्मा भी माना है? या फिर गंगा के रास्ते अपने पति की ज़िंदगी मांगने स्वर्ग गई सती बिहुला से? किससे शुरू होती है अंग जनपद की कथा, क्योंकि यहां समय की हथेली पर एक से एक जटिल रेखाएं हैं...और पता नहीं अंग को यह जटिलता अपना ऐतिहासिक सौंदर्य लगती है या फिर इतिहास की साज़िश?

अंग! अब तक भव्य संबोधनों और विशेषणों के टीले पर खड़ा कर इतिहास हमेशा अंग से उसका हक छीनता आया है- महारथी सूर्यपुत्र कर्ण की नगरी अंग! सूर्य के आराधक कवि दीर्घतमा को आश्रय देने वाला देश अंग! सती बिहुला का ससुराल अंग! आगे बढ़ें तो रेशमी नगर अंग! महान स्वतंत्रता सेनानी तिलका मांझी के आंदोलन का साक्षी अंग! महान साहित्यकार शरतचंद की पसंदीदा जगह अंग! महान गायक किशोर के बचपन का जनपद अंग। गौरव के विशेषणों की कमी नहीं है, लेकिन यह भी सच है कि आज भी अंग को खुद पर गर्व करने के बहाने ढूंढने पड़ते हैं। कभी अंग प्राचीन भारत के 16 महाजनपदों में से एक था। इसका पहला उल्लेख अथर्ववेद में मिलता है। बौद्ध ग्रंथों में भी अंग का नाम दर्ज है। महाभारत के अनुसार बिहार में आज के भागलपुर, मुंगेर, झारखंड के संथाल परगना का कुछ क्षेत्र और पश्चिम बंगाल का कुछ हिस्सा अंग प्रदेश के क्षेत्र थे। इस प्रदेश की राजधानी चंपा थी। बाद में महावीर कर्ण अंग के राजा बने। इतिहास के पास अंग के नाम और भी कई अध्याय हैं...साथ ही अंग से पूछने के लिए कई असुविधाजनक सवाल भी। सदियों से एक प्रश्न उत्तर की प्रतीक्षा कर रहा है-

Print to PDF without this message by purchasing novaPDF (http://www.novapdf.com/)

अंग! तुम सच-सच बतलाना, छठी शताब्दी के पहले बिहुला और विषहरी के बीच चली लड़ाई में किसकी जीत और किसकी हार हुई थी? सब कहते हैं बिहुला अपने पति के प्राण वापस कर विषहरी से जीत गई थी। यह बात सच है तो फिर ये बताओ आज भी तुम्हारे यहां एक हारी हुई देवी विषहरी को क्यों पूजते हैं लोग? अंग की क्यों दुलारी है विषहरी-

विषहरी बड़ दुलरी!
कहां सोभे बाजू बंद-कहां टिकुली?
विषहरी बड़ दुलरी!
टूटी गैले बाजूबंद, गिरल टिकुली
फाटी गैले विषहरी माय के घघरी
विषहरी बड़ दुलरी!
जोड़ी देबै बाजूबंद, साटब टिकुली
सिबी देबै विषहरी माय के लाल घघरी!

कथा को सीने और सहेजने बैठेंगे, तो एक साथ कई कथाएँ मिलेंगी, कई उपकथा और कई परिकथा भी। इन्हीं कथाओं में से कला की पगडंडी भी निकलती है। कथा के विस्तार से कला की पगडंडी पर पहला पड़ाव आता है- मंजूषा कला। लोक की लय कैसे रंगों से खेलती है, लोक की आस्था कैसे आकार पाती है और कैसे बच्चों की तुतलाहट और बुढ़ापे का अनुभव-संसार एक साथ उल्लास की लहरें बनाते हैं, इसे जानना हो तो मंजूषा कला की लय से, रंग से और आकार से आपको दोस्ती करनी होगी। आपको यह जानकर भी सुखद आश्चर्य होगा कि अंग जनपद की इस कला की परिधि के बीच भी बैठी हैं विषहरी।

लोक देवी विषहरी! यानी विष को हरण करने वाली देवी-

विष होरे कल्याण कोरे ताई नाम विषेहोरी

(बांग्ला लोकोक्ति)

कहते हैं, शिव की मानस पुत्री है विषहरी। पांच बहनों में सबसे बड़ी विषहरी, फिर मैना, दिति, जया और पद्मा। भगवान शिव की जटा से इनका जन्म होने की वजह से ही लोक में ये पाँच देवियां शिव की मानस कन्या यानी मनसा के नाम से पुकारी जाती हैं।

पाँचो बहिन कुमारी हे विषहारी!
खेले चार चौमास हे विषहरी!
वहां से चली भेली हे विषहरी!
कनुआ घर आवास हे विषहरी!
कनुआ के बेटा उत्पाती हे विषहरी!
लावा छिटी पड़ैलकों हे विषहरी!
वहां से चली भेली हे विषहरी!
मलिया घर आवास हे विषहरी!
मलिया के बेटा उत्पाती हे विषहरी!
फूल छिटीं पड़ैलकों हे विषहरी!

(हे विषहरी देवी, विष को हरने वाली माँ! हमेशा खेल में व्यस्त रहने वाली पाँच कुमारी बहनों वाली देवी... आपका आवास किस घर में है? किसका बेटा शरारती है! किसने आपको भोग लगने वाला लावा बिखेर दिया? आपका ठिकाना तो माली के घर में है। माली का बेटा तो बड़ा शरारती है। उसी ने आपका फूल बिखेर दिया)

शायद यह लोक की उदारता है कि बिहुला के हठ, उसकी आस्था और उसकी जिजीविषा को याद रखने के लिए अंग जनपद का लोक हर साल पर्व मनाता है, लेकिन लोक को जब-जब याद आती हैं बिहुला, तब-तब पूजी जाती हैं विषहरी। तभी तो जब सारे भारतीय श्रावण शुक्ल पंचमी को ब्रह्मा द्वारा शेषनाग को दिए गए वरदान और प्रसाद के स्मृति पर्व के रूप में नागपंचमी मना रहे होते हैं, उस समय अंग जनपद में बिहुला-विषहरी की पूजा को एक उत्सव के रूप में देखते हैं लोग। उत्सव में रंग भरती है मंजूषा कला। लोककथा को आकार देने वाली कला।

कला कहती है कथा

कथा है मंजूषा कला की भी। कहानी छठी शताब्दी ईसा पूर्व की है। उस समय अब के भागलपुर को, चंपा के नाम से जाना जाता था। भागलपुर यानी अंग जनपद का केंद्र। चंपा में एक ख्यात सौदागर रहते थे- चांदो सौदागर। चांदो भैरवनाथ के महान भक्त थे। गंगा के तट पर स्थापित भैरवनाथ के मंदिर में सौदागर की अपार श्रद्धा थी। एक दिन शाम के समय सौदागर ने भैरवनाथ की पूजा जैसे ही समाप्त की, उनके सामने एक दिव्य छाया प्रकट हुई। ध्यान से देखने पर सौदागर ने पाया कि वह आकृति एक देवी की है, जिनके हाथों में चमकीले सर्प हैं। देवी ने अपना परिचय शिव की मानस पुत्री मनसा अथवा विषहरी के रूप में दिया। देवी ने सौदागर से अनुरोध कि वह साँप की पूजा करे। ठीक उसी तरह श्रद्धा से, जैसे कि वह भैरवनाथ यानी शिव की पूजा करते हैं। चांद सौदागर किसी भी प्रकार से नागपूजा के लिए राज़ी नहीं हुए। इस बात पर देवी मनसा अत्यंत क्रोधित हुई और चांदो सौदागर को तबाह करने की ठान ली।

एक और कथा है। कहते हैं- चांदो सौदागर पहले शिव की मानस पुत्री विषहरी के परम भक्त थे। वह नित्य उनकी पूजा करते थे। एक दिन उन्होंने एक नाग को मेंढक खाते देख लिया, इससे उनको घृणा हो गई। उन्होंने घोषणा की कि वह अब विषहरी की पूजा नहीं

Print to PDF without this message by purchasing novaPDF (http://www.novapdf.com/)

करेंगे। इस बात पर मनसा देवी काफ़ी नाराज़ हो गईं और वह चांद सौदागर को तबाह करने निकल पड़ीं।

एक दिन सौदागर व्यापार के लिए रवाना हुए तो देवी विषहरी ने बीच समुद्र में अपने मायावी प्रभाव से जहाज को उलट दिया। इस दुर्घटना में सौदागर के छह पुत्र मारे गए तथा काफ़ी सम्पत्ति का नुकसान हुआ। इधर देवी विषहरी ने चांदो सौदागर की पत्नी सोनिका को सपने में यह घटना बताकर पूजा का अनुरोध किया तो वह तैयार हो गई। उधर चांदो सौदागर, जो दुर्घटना में किसी प्रकार से बच निकले थे, ठीक उसी वक़्त वापस घर आए, जब उसकी पत्नी पूजा की तैयारी कर रही थी। उन्होंने गुस्से में पूजा की सारी सामग्री को उठाकर फेंक दिया। इस घटना के बाद मनसा देवी यानि विषहरी और भी नाराज़ रहने लगीं। कालांतर में चांदो सौदागर को एक और पुत्र हुआ, जिसका नाम बाला लखिंदर रखा गया। उसी दिन विषहरी ने घोषणा की कि यह लड़का सुहागरात के दिन ही सर्पदंश से मर जाएगा।

ये कहानी आगे बढ़ती है तो ज़िक्र आता है उस लड़की का, जिसकी शादी बाला लखिंदर से होने वाली थी- उसका नाम था बिहुला। पड़ोस के गांव में रहने वाले सोनू सौदागर और सोहनी सौदागर के घर पैदा हुई थी बिहुला। बिहुला जैसे-जैसे बड़ी होती गई, मां गंगा के प्रति उसकी आस्था बढ़ती चली गई। वह हर रोज़ गंगा में स्नान करने और पूजा करने जाती थी। लेकिन अक्सर रास्ते में उसे एक बुढ़िया मिलती थी और शाप देती थी कि तू सुहागरात के दिन ही विधवा हो जाएगी। वह बुढ़िया कोई और नहीं, वेश बदलकर देवी विषहरी होती थीं।

समय बीतता जा रहा था। देवी विषहरी का गुस्सा बढ़ता जा रहा था। बिहुला जब बड़ी हुई तो उसकी शादी बाला लखिंदर से तय हुई। चांदो इस बात को जानते थे कि विषहरी सुहागरात के दिन ही बाला को डसवाने का यत्न करेंगी। इसलिए उन्होंने लोहे और बांस का एक ऐसा अभेद्य घर बनवाने का आदेश दिया, जिसमें चींटी तक भी प्रवेश नहीं कर सकती थी। लोक मान्यता के अनुसार इस घर का निर्माण विश्वकर्मा ने किया था, लेकिन जब घर बनना आरंभ हुआ तो विषहरी विश्वकर्मा के सामने प्रकट हुईं और कहीं एक छिद्र छोड़ देने का अनुरोध किया। पहले तो विश्वकर्मा तैयार नहीं हुए, लेकिन बाद में शाप के भय से उन्होंने एक छोटा-छिद्र छोड़ दिया। तय मुहूर्त में शादी भी हो गई। घर के सभी सदस्य डरे और सहमे हुए थे। बिहुला जब सुहागरात कक्ष में गई तो उसने अपने साथ साँप की पूजा सामग्री भी रख ली थी। जैसे ही बाला सुहागरात कक्ष में आया तो देवी विषहरी ने नाग को आदेश दिया कि वह बाला को जाकर डँस ले। लेकिन सुहागरात कक्ष में नाग को देखते ही बिहुला ने पूजा और स्तुति आरम्भ की- कदम वृक्ष पर नाग बाबा के डेरा तोहराक देबों नाग बाबा गंगा के नि...र...वा हे।

(हे नाग बाबा कदम्ब के पेड़ पर आपका बसेरा है। हम आपको गंगा जल चढ़ाएंगे)

बिहुला की स्तुति से नाग प्रसन्न हो गया, और वह वापस चला गया। इस पर विषहरी काफ़ी नाराज़ हुई और उन्होंने नेत्री नागिन को यह काम सौंपा। नेत्री ने अपना काम पूरा किया। नागिन के डँसते ही बाला बेहोश हो गया। इसके बाद की कहानी तेज़ी से बदलते जाती है- सर्पदंश के उपचार के लिए बिहुला ने अपने पति को उपयुक्त स्थान पर ले जाने के लिए एक विशेष प्रकार का मंजूषानुमा जलयान बनवाया था, बाद में उसने अपने ससुर के विरोध के बावजूद मनसा देवी की पूजा की और बाला को सर्पदंश से मुक्ति मिली।

कथा के और भी रूप मिलते हैं- मंजूषायान के सहारे बिहुला जलमार्ग से इन्द्रासन चली गई जहां देवताओं को प्रसन्न किया और बाला को सर्पदंश से मुक्ति मिली, बदले में अपने विषहरी की पूजा करना कबूल किया। कहते हैं मौत और ज़िंदगी की इसकी कहानी के बीच एक ऐसी कला ने जन्म लिया, जिसे आज हम मंजूषा कला के नाम से जानते हैं।

बिहुला-विषहरी की कथा सच्ची है या फिर लोगों की आस्था की अतिरंजना ने गढ़ दी है यह कहानी, यह तो नहीं मालूम...लेकिन इस कथा से जुड़ी मंजूषा कला के रंग आज भी चहकते हैं। जब बिहुला ने अपने पति को ले जाने के लिए एक मंजूषानुमा यान बनवाया था...तो उस यान को उस समय के एक चित्रकार लहसन माली ने अपनी सहज कलात्मक सोच से चित्रित किया था। तब लहसन की कला ने देवी विषहरी की आराधना की थी। वह कला-यात्रा न जाने कितने अनाम हाथों से गुज़रती हुई आज भी जारी है। आज भी बनते हैं मंजूषा।

आज भी सजती है मंजूषा, क्योंकि बिहुला-विषहरी की पूजा में मंजूषा अर्पित करना, सिर्फ लोक की आस्था ही नहीं, शायद लहसन के साथ अंग का किया हुआ एक वादा भी है कि तुमने जिस तरह विषहरी को किया था प्रणाम, उसी तरह हम देवी से लेते रहेंगे आशीर्वाद।

Print to PDF without this message by purchasing novaPDF (http://www.novapdf.com/)

वाद नहीं, वादे पर टिकी है यह कला

लहसन की याद में कहें, या फिर देवी की ख़ुशामद में, भागलपुर के चम्पानगर के दर्जनों माली परिवार हर साल लिखते हैं मंजूषा। यह बात सच है कि एक माली परिवार के लिए मंजूषा लिखना या बनाना रोज़गार का एक बहुत छोटा-सा मौका भी है, लेकिन जो लोग उन माली कलाकारों से मिले हैं, वे जानते हैं कि पांच-दस या बीस रुपए में बिकने वाली मंजूषा जेब की ख़ातिर नहीं, जुनून के लिए लेती है आकार। अंग को बिहुला विषहरी की कथा पसंद है, या मंजूषा का आकार, यह भी बहस का विषय हो सकता है, लेकिन इसमें कोई शक नहीं कि बिहुला को अर्पित होने वाली मंजूषा बीते कल को आज से जोड़ती है। पूजा करीब आती है, तो माली परिवारों की बेचैनी बढ़ जाती है- सबसे पहले तो सनई की लकड़ी जुटानी होती है। सनई की लकड़ी नहीं समझे-जूट की लकड़ी...फिर शोला और काग़ज़ भी चाहिए। सनई की लकड़ी देती है आकार, शोला और काग़ज़ से बनती है दीवार और फिर सामने होती है मंदिरनुमा आकृति, जिसे लोग कहते हैं मंजूषा। आकार के विस्तार की कोई सीमा नहीं है। एक मंज़िल, दो मंज़िल, तीन मंज़िल...कोई मंजूषा तो आठ-आठ मंज़िल के भी होते हैं। जब बन जाती है मंजूषा तो फिर कूची शुरू करती है अपना काम। रुई के फाहे अथवा नर्म मुलायम कपड़े की बनती है कूची। मिट्टी के छोटे-छोटे बर्तनों में घोले जाते हैं कच्चे रंग। रंग ज़्यादा नहीं होते लेकिन अंग के माली कलाकारों को इसका कोई ग़म नहीं। नीला, पीला, गुलाबी और हरा, इन चार रंगों से ही होता है चमत्कार। कभी-कभी काले रंग का प्रयोग भी देखने को मिलता है। काला रंग इस कला से अब तक इसलिए भी दूर है, क्योंकि शुभ मौके पर काले रंग से बचते हैं लोग।

चित्र बनाने वाले कलाकार नहीं जानते कि उनकी कूची से निकली रेखाएं आधुनिक कला के किस वाद के इर्द-गिर्द घूमती हैं, वे तो इतना भर जानते हैं कि पूजा आने वाली है, तो मंजूषा बननी ही चाहिए, क्योंकि अगर ऐसा नहीं होगा तो फिर आस्था के जो गीत कभी-कभार सुनाई पड़ते हैं, वो भी ख़ामोश हो जाएंगे।

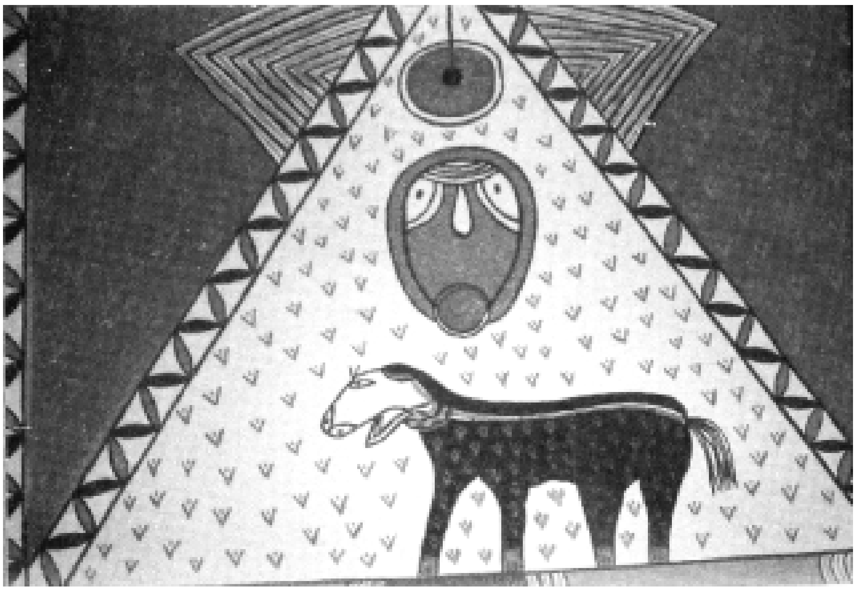

रंग तैयार हो, कूची हाथ में आ जाए तो फिर पात्र को आने में कितनी देर लगती है! लेकिन पहले कौन आएंगे, इसका फ़ैसला पद और प्रतिष्ठा के हिसाब से होता है। पद और प्रतिष्ठा के हिसाब से जगह भी तय होती है। शुभ मुहूर्त हो तो कोई लोक सबसे पहले किस देव को याद करेगा, उसमें भी बात बिहुला-विषहरी की हो रही हो तो सबसे पहला हक तो महादेव का बनता है। महादेव के बाद कूची चलती है देवराज इंद्र के लिए। फिर पार्वती आती है। इस मौके पर लोकदेव हनुमान को भी तो याद करना ज़रूरी है। इसके बाद आती हैं देवी विषहरी अपनी पाँच बहनों के साथ, लेकिन अभी तो इस अमर कथा के कई पात्र बाकी हैं। कलाकार को अपने रंगों और रेखाओं से शिल्पराज विश्वकर्मा को भी रचना होगा, क्योंकि विश्वकर्मा अगर विषहरी के आगे न झुक जाते तो फिर बिहुला को नहीं मिलती सज़ा। विश्वकर्मा के बाद मंजूषा पर आते हैं चांदो सौदागर और उनका पूरा परिवार। कूची यहीं विराम नहीं लेती। बाला और बिहुला के साथ, उस कथा से जुड़े पात्र सोनिका साहुन, बिहुला का भाई शंखा, धनोत्तर ओझा, नेतला जादूगरनी, गोदा घटवार, इंद्रासन राज का नटुवा, झारखंडी मंतरिया को भी मिलती है जगह क्योंकि ये सारे पात्र उस कथा को आगे बढ़ाते हैं, जिस कथा में बिहुला अपने पति बाला के प्राण वापस लाती है। इन पात्रों के अलावा पशु-पक्षियों के भी चित्र बनाए जाते हैं। कागा कोयली, तोता-मैना, गरुड़, मोर, शीतला माई का वाहन गधा, बाघ, घोड़ा, हाथी के साथ-साथ की ओर मुड़ते हैं कलाकार। गंगा-यमुना, नाग कलश, मछली, नाव, ढोढा-बेंगा, टुंढी राक्षसी, लोही बांस भवन, बाला-बाहुला का शयन कक्ष, इन सबों को कैसे छोड़ दें कलाकार...कूची चलती है, पात्र आकार पाते रहते हैं। पात्रों के नाम तो रुकने का नाम नहीं लेते-जल, बादल, चांदा, सूरज, वट-पीपल और आम को भी तो बनाना है। कथा खुलती जाती है और चित्र बनते जाते हैं।

चित्र बनाने वाले कलाकार नहीं जानते कि उनकी कूची से निकली रेखाएं आधुनिक कला के किस वाद के इर्द-गिर्द घूमती हैं, वे तो इतना भर जानते हैं कि पूजा आने वाली है, तो मंजूषा बननी ही चाहिए, क्योंकि अगर ऐसा नहीं होगा तो फिर आस्था के जो गीत कभी-कभार सुनाई पड़ते हैं, वो भी ख़ामोश हो जाएंगे।

Print to PDF without this message by purchasing novaPDF (http://www.novapdf.com/)

अनगढ़ ग्वालों की सुघढ़ कला

डॉ. ओमेन्द्र कुमार

युद्ध कौशल के प्रतीक गोपालकों के बरेदी नृत्य से लोक संस्कृति की जीवंतता झलकती है। बुंदेलखंड भर में दीपावली की परवा से देवउठावनी एकादशी तक मुख्य रूप से होने वाले इस नृत्य को 'दीवारी नृत्य' भी कहा जाता है। उरई के पास स्थित ऐर, ऐरी इत्यादि ग्रामों में इस दौरान दीवारी या बरेदी नृत्य की प्रतियोगिताएं आयोजित होती हैं जिनमें दर्जनों गाँवों की टीमों का आपस में मुकाबला होता है। इन नर्तकों में इतना जोश होता है कि यह पूरे दिन इसे खेलते हैं। दीवारी नृत्य का यह खेल बेहद रोमांचक है और इसके लिए कठिन अभ्यास की ज़रूरत होती है। मंजे हुए कलाकारों के करतब देखकर लोग दाँतों तले उंगली दबा लेते हैं।

इस नृत्य का संबंध कृष्ण द्वारा इंद्र के घमंड को चूर करने के लिए गोवर्धन पर्वत को उंगली पर उठा लेने की कथा से जोड़ा जाता है। हालांकि एक और किंवदंती भी इस लोक परंपरा को लेकर प्रचलित है। वो यह कि द्वापर में भगवान कृष्ण के जन्म के बाद उनका बचपन गोकुल में नन्द व यशोदा के घर बीता। बाबा नन्द अहीर जाति के थे। वहां श्रीकृष्ण गायें चराने जाते और अपने सखाओं व गोपियों के साथ अहिरारू नृत्य करते थे। भगवान कृष्ण का अवतार सोलह कलाओं से हुआ था और इनमें एक कला अहिरारू नृत्य था। प्रसिद्ध लोक नर्तक लाखनलाल यादव बताते हैं- इस अहिरारू या दीवारी नृत्य को पाई डंडा नृत्य भी कहते हैं। इसमें 8 से 18 कलाकार नृत्य करते हुए एक दूसरे पर लाठियों से प्रहार करते और इससे बचाव भी करते हैं। नृत्य से पहले दोहे गाये जाते हैं जैसे- यहां दीवारी दस दिना गोकुल में बारो मास, नित गोरी गोधन धरे, नित अहीर खिलावे गाय।

लोकायन

नर्तक इसमें बैलों के श्रृंगार में इस्तेमाल होने वाले वस्त्र की तर्ज़ पर फुंदनादार बनियान और कसा हुआ रंग-बिरंगा जांघिया पहनते हैं। ग्वालों की आदमी के बराबर की लाठी और डेढ़ फुट की डंडिया जो गायों के खूंटे का प्रतीक होती है, जिसके माध्यम से सारी नृत्य की भाव-भंगिमाएँ अभिव्यक्त की जाती हैं। बुंदेलखंड में गाँव-गाँव में सैयद बाबा के पूजने के स्थान होते हैं जो सांप्रदायिक भाईचारे की परंपरा का ज्वलंत उदाहरण है। दीवारी नृत्य की शुरुआत में भी गायी जाने वाली पंक्तियों में इसका निर्वाह देखा जा सकता है। पहले इस तरह टेर लगायी जाती है- 'राम रमुआ सब भैयन को, तुर्कन को दुआ सलाम, पंडित हो तो पाय लाग लें और संतन को सीताराम।' इस नृत्य का एक पहलू एक खिलाड़ी द्वारा दूसरे पर दुश्मन की तरह लाठी से वार करना और इस दौरान दूसरे खिलाड़ी द्वारा अपनी लाठी पर उस प्रहार को रोक लेना भी है।

मान्यता है कि दीपावली के अगले दिन से ही उनका इंतज़ार होता है उन पर्चों के आने का जिनमें किसी गाँव में दीवारी नृत्य प्रतियोगिता के लिए ससम्मान खिलाड़ियों को बुलाने का आमंत्रण रहता है। मथुरा बेलदार ने बताया कि सहयोगी कलाकार ढोलक, मंजीरा, अलगोझा (दो बांसुरियों जैसा संगीत यंत्र), झींका बजाते हैं और उनकी थाप पर तरंगित खिलाड़ी घेरा बनाकर नृत्य करते हैं। घेरा के बीच एक-एक करके खिलाड़ी जुलाटें लगाते हैं। कुछ खिलाड़ी अपने साथियों के कंधे पर चढ़कर लाठियों के ऊंचे सिरे पर अपना नृत्य कौशल दिखाते हैं। तिलक नगर के मलखान कुशवाह ने बताया कि नाच के समय गाने के लिये कोई सेट गाने नहीं हैं पर ज़्यादातर गीत राम या कृष्ण की महिमा के बखान से संबंधित हैं। एक गीत का मुखड़ा उन्होंने बताया- 'गोकुल में दिया जले मथुरा में भयो उजियार, वासुदेव की बेड़ी कटी, कृष्ण लयो अवतार।' 50 वर्ष के ऐरब वाले कामता प्रसाद रजक दीवारी नर्तकों के प्रति लोगों के रवैये को लेकर आक्रोश जताते हैं। उनका कहना है कि दीवारी नाच के कलाकार पैसों के लिए नहीं मरते यह तो एक लगन है लेकिन उनकी कला का सम्मान करने की बजाय आधुनिकता की बयार में बहने वाली पीढ़ी दीवारी नर्तकों की वेशभूषा देखकर उनकी खिल्ली उड़ाती है। इस कारण धीरे-धीरे लोग यह खेल सीखना और दिखाना बंद कर रहे हैं। तिलक नगर के भगवानदास कुशवाह को मलाल है कि दीवारी नर्तकों के प्रोत्साहन के लिए आज तक किसी सरकार ने नहीं सोचा। उरई के समाजसेवी टिन्नी महाराज का सुझाव है कि सरकार को बुंदेलखंड की इस लोक परंपरा को जीवित बचाये रखने के लिए गणतंत्र दिवस पर दिल्ली में निकलने वाली राष्ट्रीय परेड में दीवारी नर्तकों की झाँकी शामिल करना चाहिए।

समय रहते सरकार ने इस ओर ध्यान नहीं दिया तो उत्तर प्रदेश की लोकमान्य शैली नौटंकी या लिल्ली घोड़ी नृत्य की तरह ही दीवारी नृत्य भी आने वाले कुछ सालों में सिर्फ किताबों तक सिमट कर रह जायेगा। खेल-खेल में ग्वालों को बदमानों पर आक्रमणकारियों से अपनी हिफ़ाज़त ख़ुद करने में सक्षम बनाने के उद्देश्य से प्रेरित करने वाले दीवारी नृत्य की भंगिमाएं व बोल भले ही अनगढ़ हों लेकिन उनका अपना अलग आकर्षण है, इससे इंकार नहीं किया जा सकता।

Print to PDF without this message by purchasing novaPDF (http://www.novapdf.com/)

बुन्देली स्वांग

कला भी, कटाक्ष भी

हिमांशु द्विवेदी

लोक नाट्य

बुन्देलखण्ड में प्रचलित 'स्वांग' एक प्रचलित और प्राचीनतम लोकनाट्य है। व्यापक रूप में स्वांग का अर्थ रूप रखना, वेश बनाना, नकल करना, ढंग रचाना, तमाशा करना आदि है लेकिन ये अर्थ बाद में विकसित हुए हैं। क्योंकि इसमें स्वांग की विशेष प्रवृत्तियों को आधार बनाकर उनसे अर्थ निकाला गया है। वास्तव में इन अर्थों से स्वांग की उत्पत्ति नहीं हुई वरन स्वांग से अर्थों की यात्रा चली है। आंगिक में सु-उपसर्ग लगाकर स्वांगिक बना है। जिसका बिगड़ा रूप 'स्वांग' लोक मुख में बचा रहा, उसी से स्वांगना और स्वांगी बने और स्वांग बनाना, स्वांग भरना, स्वांग रचना आदि क्रियायें लाक्षणिक अर्थ प्रदान करने लगीं।

डॉ. बलभद्र तिवारी ने अपनी पुस्तक 'राई और स्वांग' में स्वांग को परिभाषित करते हुए लिखा है- ''स्वांग फार्स और प्रहसन से आगे जाने वाली लोकनाट्य विधा है जिसमें नृत्य, संगी, अभिनय, व्यंग्य, हास्य को सरल आडंबरहीन सामान्य वेश-भूषा के साथ बड़ी ही सहजता के साथ प्रस्तुत किया जाता है।'' स्वांग में लोगों की रुचि के अनुसार किसी की नकल करके उसे गीत और नृत्य के माध्यम से प्रस्तुत करते हैं। इसमें छोटे-छोटे कथानकों को हास्य-व्यंग्य के माध्यम से व्यक्त करते हुए आमजन का भरपूर मनोरंजन करते हैं। इसका प्रदर्शन नुक्कड़ नाटकों की भांति किसी भी गली, मुहल्ले, चौराहों, चौपाल, आंगन आदि में किया जा सकता है। स्वांग की परम्परा कितनी पुरानी है इस विषय में कुछ भी निर्णायक रूप से नहीं कहा जा सकता लेकिन स्वांग की चर्चा कालिदास, सिद्ध कण्हपा, गोरखनाथ, संत कबीर, मलिक मोहम्मद जायसी, गुरु नानक देव, रसखान, संत तुकाराम आदि के साहित्य में अवश्य मिलती है।

''आलो डोंवि तुइसम करियब साँग'' (जायसी) अर्थात् हे पुतरिया अब डोम आ गया है जो तेरे साथ स्वांग करेगा।

होय कहीं जहां कथा-कीर्ति, नैक न तू रोक पाया रे
होय जहां की स्वांग तमाशा तनक न नींद सताय रे (कबीर)

अर्थात् जहाँ भजन, सत्संग, कथा, कीर्तन आदि होते हैं वहां तेरा मन नहीं लगता है और जहाँ स्वांग-तमाशे होते हैं वहाँ तेरा मन कभी नहीं भरता है। अतः यह स्पष्ट है कि उस युग में भी स्वांग मनोरंजन के प्रमुख साधन थे। डॉ. दशरथ चन्द्र ओझा अपनी पुस्तक 'हिन्दी नाटक : उद्भव और विकास' में स्वांग की उत्पत्ति सर्वप्रथम हरियाणा से मानते हैं, उनका मानना है कि मध्यकाल में हरियाणा में 'सादुल्ला' नामक प्रसिद्ध लोक कवि हुए जिन्होंने गीतों और लोक नाटकों की रचना की। स्वांग की उत्पत्ति के संदर्भ में बुन्देलखण्ड में एक लोक कथा प्रचलित है। एक बार शिवजी पार्वती के वियोग में उदास हो गये, तब उनके गणों ने विभिन्न प्रकार के रूप रखकर स्वांग किये और उनका मन बहलाया तब प्रसन्न होकर शिवजी ने भी स्वांग किये।

वर्तमान समय में बुन्देलखण्ड में कई प्रकार के स्वांग प्रचलित हैं- होली का स्वांग, नवरात्रि का स्वांग, दीपावली का स्वांग, बहुरूपियों के स्वांग, रामलीला का स्वांग, रासलीला का स्वांग, कुंआ पूजन का स्वांग, जुगिया स्वांग, सास-बहू का स्वांग, कोरी का स्वांग, चमार का स्वांग, स्त्रियों के स्वांग, बच्चों के स्वांग आदि। ये स्वांग अपने व्यंग्य-विनोद के माध्यम से सामाजिक विसंगतियों पर करारी चोट करते हैं। दहेज प्रथा, बेमेल विवाह, बाल विवाह, मदिरा, पान,

Print to PDF without this message by purchasing novaPDF (http://www.novapdf.com/)

जुआबाजी, सूदखोरी, चोर बाज़ारी, पाखण्ड, अंधविश्वास जैसी अनेक बुराइयों पर अपने हास्य प्रधान अभिनय के द्वारा सीधा कटाक्ष करते हैं।

'होली के स्वांग' में होली के अवसर पर खेले जाने वाले स्वांग आते हैं। इसमें पुरुष की भूमिका प्रधान होती है, रंगों के द्वारा बड़ी-बड़ी मूँछें, सिर पर लम्बी सी टोपी (जोकर की तरह), हाथ में बजाने के लिए कोई भी टूटा-फूटा पीपा (टीन की चद्दर से बना) इस्तेमाल करते हैं। स्त्री-पुरुष एक दूसरे पर रंग डालते हैं, कहीं-कहीं तो महिलाएँ अपना मुँह बाँधकर पुरुष को डंडे से पीटती हैं और मर्द को बचना होता है। यह बड़ा ही मनोरंजक होता है। 'बहुरूपिए के स्वांग' में अनेक खेल होते हैं जो बहुरूपिया अलग-अलग दिन अलग-अलग रूप रखता है। कभी शंकर, कभी बंदर, कभी काली माँ, कभी हनुमान, कभी बादशाह अकबर इत्यादि। इनके अभिनय में इतनी प्रमाणिकता होती है कि सामने वाला व्यक्ति अचंभित हो जाता है। उदाहरण स्वरूप एक बार मेरे गाँव में एक दरोगा आया और किसी घर में लड़के को पकड़कर ले जाने लगा। सभी ने कहा- दरोगा जी इसे क्यों ले जा रहे हो तो वह बोलता है यह चोरों का दोस्त है और इसने चोरी में उनका साथ दिया है, सभी उस दरोगा के रौब से डर रहे थे। यह ड्रामा लगभग 30 मिनिट तक चला और अंत में वह स्वांगिया बताता है कि मैं तो बहुरूपिया हूँ और स्वांग कर रहा था। सभी उसके इस अभिनय प्रदर्शन को देखकर बहुत खुश होते हैं और उसे खूब सारा ईनाम भी देते हैं। 'रामलीला का स्वांग' पूरे बुन्देलखण्ड में कुँवार मास में मनाया जाता है, इसमें राम की कथा का बड़ा ही मार्मिक व वीर रस पूर्ण प्रदर्शन किया जाता है। बुन्देलखण्ड में भादों के मास में कृष्ण जन्म के अवसर पर गाँव में रासलीला का प्रदर्शन होता है जिसमें कृष्ण के जीवन के विभिन्न स्वांगों को प्रदर्शित करते हैं। बुन्देलखण्ड में कुँवार मास की नवरात्रि में अविवाहित लड़कियों द्वारा नारे सुआटा का खेल खेला जाता है। यह खेल 9 दिन चलता है। इसमें लड़कियाँ गौर के विवाह का स्वांग करती हैं और नाचती गाती हैं। इस तरह कई स्वरूपों में स्वांग मनोरंजन और सामाजिक संदेश की मनोहारी अभिव्यक्ति बन जाता है।

स्वांग की कथावस्तु कोई कथा, घटना, प्रसंग, लोक समस्या, पहेलियों, जादू-टोना आदि पर आधारित होती है। इसमें किसी स्वांग का लेखन नहीं किया जाता, सिर्फ एक कथानक को आधार मान कर कलाकार प्रदर्शन करते हैं। अर्थात् यह विशुद्ध इम्प्रूवाइस्ड फॉर्म है। जिसमें संवादों का पहले से निर्धारण नहीं होता बल्कि परिस्थिति और अभिनेता की क्रिया-प्रतिक्रिया (Action-Reaction) के आधार पर संवाद बोले जाते हैं। स्वांग की सबसे बड़ी विशेषता है कि इनमें जिन विषयों को उठाया जाता है वे सामाजिक, सांस्कृतिक, आर्थिक विसंगतियों के ही होते हैं। स्वांग के अभिनेता गायन, वादन तथा नृत्य में प्रवीण होते हैं। वह कई नृत्य के साथ-साथ बुन्देली गीत भी गाते हैं। स्वांग में शिष्ट नाटकों की भाँति साज-सज्जा, वेशभूषा, मंच परिकल्पना, प्रकाश व्यवस्था आदि का आग्रह नहीं होता है। इसमें ग्रामीण कलाकार जिन चीज़ों का इस्तेमाल करके उसे प्रभावी बनाते हैं वह वास्तव में काबिले ग़ौर है। एक अंग्रेज़ी को दिखाने के लिए सिर पर हैट, टाई, चश्मा, पतलून, बूट आदि होने चाहिए जिन्हें स्वांग के कलाकार सागौर के पत्तों से हैट बनाकर प्रस्तुत करते हैं, चश्मा टटेरे की पंचट निकालकर गोल बनाये हुए फ्रेम से पहचान में आता है। जहाँ तक टाई की बात है तो किसी साड़ी की किनारी फाड़कर टाई बना लेते हैं। कोट फटा-पुराना भी चल जायेगा और जूते ग्रामीणों के परंपरागत खचऊ से काम चला दिया जाता है।

स्वांग में महिलाओं की भूमिका पुरुष ही निभाते हैं। इसीलिए नारी बनने के लिए मेकअप का सामान भी बड़ा सस्ता होता है। इसमें पिसा हुआ कोयला, चूना, राख, रोली या गुलाल और फूल-पत्ती पर्याप्त है। यदि शादी का दृश्य दिखाना है तो बेड़ियों के मंगल सूत्र और टटेरों के गहने बन जाते हैं। चावल के स्थान पर छोटे-छोटे कंकड़-पत्थर इस्तेमाल करते हैं। इसमें 'नो लॉस नो गेन' का सिद्धांत अपनाया जाता है। स्वांग इन्हीं में आकर्षक बनता है और समाज को कल्पना के अनुसार समझने का अवसर प्रदान करता है। स्वांग में कलाकार प्रतीकों का बड़ा इस्तेमाल करते हैं। जितने अच्छे प्रतीक स्वांगिया चुनेंगे, उतने ही अधिक प्रभावशाली होंगे।

यह जनमानस से जुड़ी हुई नाट्य विधा है। अतः जनसामान्य की बदलती मनःस्थितियों के साथ स्वांग की कथावस्तु व प्रस्तुतिकरण में भी परिवर्तन हो रहा है। सिनेमा का प्रभाव भी स्वांग पर पड़ा है, वेशभूषा में भी परिवर्तन हो रहा है। संवादों में भी अंग्रेजी शब्दों का प्रयोग होने लगा है। समकालीन समस्याओं परिवार-नियोजन, एड्स, कुष्ठरोग, कन्या भ्रूण हत्या जैसे विषय भी इसमें समाहित होने लगे हैं। इस तरह के प्रयोग आवश्यक हैं।

कहीं ऐसा न हो कि इस प्रयोग प्रक्रिया में स्वांग का मूल स्वरूप गायब हो जाये।

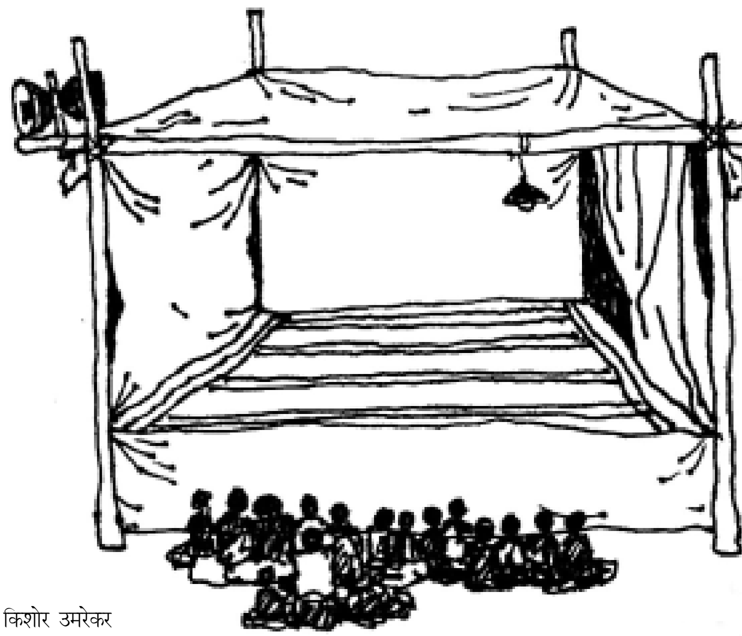

किशोर उमरेकर

Print to PDF without this message by purchasing novaPDF (http://www.novapdf.com/)

नाटक में कोई नियम नहीं होता। नाटकों में समय के साथ परिवर्तन होता है और टेक्नॉलॉजी का उपयोग भी होता है। नाटक का अपना अनुशासन होता है, अपनी ज़रूरतें होती हैं, प्राथमिकताएँ भी। आधुनिकता का खुलकर इस्तेमाल हो, भला इसमें क्या हर्ज़ है। नाटक तो प्रयोगधर्मी होता है। प्रयोग से ना डरें। लेकिन सतर्क भी रहें। *...फरमा रहे हैं चर्चित रंगकर्मी और मध्यप्रदेश राज्य नाट्य विद्यालय के निदेशक संजय उपाध्याय।*

महत्वाकांक्षाओं से लद गया है रंगमंच

बचपन से ही संगीत के प्रति रुझान था और लोकगीत तथा भजन गाया करता था। संगीत के संस्कार मुझे मेरे दादा और पिता से मिले। रंगमंच में आने के बारे में तो मैंने सोचा भी नहीं था। बचपन में संगीत के साथ फुटबॉल खेलने का शौक था। मुझे इतना पता है कि अगर मैं रंगमंच में नहीं आता तो फुटबॉल खिलाड़ी ही होता। ख़ैर, नाटक की शुरुआत स्कूल से ही हुई। बतौर अभिनेता मेरा पहला नाटक जगदीश चन्द्र माथुर का लिखा 'कोणार्क' था। उस समय मैं दसवीं में था। यहीं से मेरे जीवन की वह राह निकली जिस पर मैं अब भी चल रहा हूँ। मुझे तब बहुत प्रोत्साहन मिला और मैंने तय किया कि यही वह जगह है जहां मैं अपनी भावनाओं को व्यक्त कर सकता हूँ। इसके बाद मैं एक नाट्य संस्था 'अनागत' से जुड़ा जहाँ से प्रोफेशनल काम शुरू हुआ। कॉलेज के दिनों में इप्टा से भी जुड़ा, ये लगभग सन् 80-85 के बीच की बात है। देशभर में गाँव-गाँव घूमे, नुक्कड़ नाटक किये। और सन् 85 से 86 में मैंने बिदेसिया नाटक किया। संजय बताते हैं ये उनका ख़ुद का तैयार किया पहला नाटक था। 70-75 लोगों की एक बड़ी टीम के साथ ये नाटक किया था। इसके बाद 87 में एन.एस.डी. में मेरा चयन हुआ और मैं नाटक के बारे में और सीखने एन.एस.डी. चला गया। जब मैं छुट्टियों में आता था तब एन.एस.डी. में सीखी बातों को अपने काम में लाने की कोशिश करता था। एन.एस.डी. से निकलने के बाद अपनी एक संस्था 'निर्माण कला मंच' बनायी और कई प्रोडक्शन तैयार किये और ये काम आज भी चल रहा है। जहाँ तक बिदेसिया का सवाल है तो यह मूलतः गायिकी प्रधान शैली थी, गायन की परंपरा थी। इसमें विस्थापन का दर्द है। ये नायिका के विरह का गायन है। इसकी उत्पत्ति को लेकर अलग-अलग कथन हैं। ये लगभग 1857 के बाद की बात है, अंग्रेजों के समय में दिल्ली में एक 'सुंदरी' नाम की नायिका थी। बहुत बड़ी गवैया थी। लोग उसके मुरीद थे। अंग्रेजों ने जब दिल्ली पर आक्रमण किया तब 'सभी ने दिल्ली को छोड़ा और सुंदरी दिल्ली से भागकर मिर्ज़ापुर चली आयी और वहां से बनारसी प्रसाद की एक कहानी है 'गुण्डा' उसमें जिस पहलवान की चर्चा है शायद वही पहलवान होगा जिससे उसने प्रेम किया होगा। उस लड़के को काला पानी की सज़ा हो गयी। उसी की याद में वह गाया करती थी- 'नागर नैया जाला काला पनिया से हरी'। वो कजरी गाती थी। इसके बाद फिर वह अंग्रेजों के कारण मिर्ज़ापुर और फिर बिहार आ गयी। उसने अपनी एक कम्पनी बनायी जिसमें वह बिदेसिया गाना गाती थी।

रंगकर्मी **संजय उपाध्याय** से एकता गोस्वामी का संवाद

इसके अलावा बिहार में भिखारी ठाकुर हुए वो बिहार से कलकत्ता आदि घूमते थे और नौटंकी देखते थे। तभी उन्होंने सुंदरी को देखा सुना होगा, चूंकि इसमें गायन के साथ नृत्य भी है जिससे यह भिखारी ठाकुर को भाया और उन्होंने बिदेसिया एक नाटक ही लिख दिया। 'बिदेसिया' उसी शैली का विरह प्रधान नाटक। इस तरह भिखारी ठाकुर ने इसकी पूरी कथा वस्तु तैयार की। उन्होंने इसमें बटूही नाम का एक चरित्र डाला जिसे नायिका नायक को खोजकर लाने को कहती है। उन्होंने नाटक में गायन की शैली पूर्वी रखी।

हमारे यहाँ (बिहार) एक नृत्य होता है। लोण्डा नाच, जिसमें पुरुष नर्तक होते हैं तथा जिसे नटुआ जाति वाले करते थे। उस नाच की परंपरा, गायन की परंपरा और नाटक इन तीनों के मिश्रित स्वरूप से भिखारी ठाकुर ने नाटक तैयार किया और यह बिदेसिया नाटक होते होते एक शैली ही बन गया। भिखारी ठाकुर के बाद इसकी

Print to PDF without this message by purchasing novaPDF (http://www.novapdf.com/)

चर्चा खत्म हो गयी। छुट-पुट मण्डलियां ही इसे करती रहीं। जितनी चर्चा इसे मिलनी चाहिए थी उतनी नहीं मिली। लगभग 10-20 साल बाद मैंने इसे अपने तरीके से किया। जिसमें तमाम आधुनिक रंगमंच प्रविधियों को मैंने डाला। शुरू में जब बिदेसिया किया तो 3 घंटे का होता था। बहुत, बहुत एडिट किया लगभग छः सौ मंचन करने के बाद अब मैं इसे डेढ़ घंटे का बना पाया। पिछले 30 वर्षों में मैंने बिदेसिया को लेकर ढेरों प्रयोग किये, अलग-अलग संगठनों में पढ़ाया, जितना हो सके आधुनिक दृष्टिकोण दिया आज भी वो रेलेवेन्ट है। उसकी डिमाण्ड अब भी बहुत है। मेरा वह सिग्नेचर प्ले है।

रंगमंच पर इसे लेकर आने के पीछे उद्देश्य बचपन से ही लोकसंगीत के प्रति लगाव था। जैसे ही मुझे बिदेसिया की पाण्डुलिपि मिली, इसके छन्द पढ़कर लगा कि ये मेरा अपना है। यही तो मैं बचपन से गाता आ रहा हूँ। मुझे लगा कि इसमें रंगमंच की सारी सकें। विस्थापन एक बहुत बड़ी समस्या है। आज लोग विस्थापित हैं घर में रहते हुए भी, मित्रों से बात करते हुए भी। उस वक्त मैं बस इसी बात पर ध्यान केन्द्रित कर रहा था। इस नाटक में बारहमासा का वर्णन है। नायिका के विरह का बहुत बड़ा आख्यान है। मैंने बस इसी पर फोकस किया। बारह राग-रागिनियों में पिरोते हुए। चूँकि इस गायन शैली में एकरसता है, रात-रात भर गाने वाली उस एकरसता को मैंने तोड़ा। जहाँ तक आधुनिकता की बात है तो व्यथा विस्थापन एक रेलेवन्ट सब्जेक्ट है। उस वक्त भी था आज भी है। किसी भी शैली के साथ छेड़-छाड़ नहीं होनी चाहिए और कहा ही गया है कि परंपरा में तैरना चाहिए डूबना नहीं चाहिए। हमने भी तैरने की कोशिश की है अगर हम डूबते तो आत्महत्या सी हो जाती। यह भी है कि जैसा भिखारी ठाकुर करते थे यदि मैं भी वैसा ही छाप देता तो भी ये वहीं पर मर जाती। एक शैली को जब तैरने के लिए खुला छोड़ते हैं तब

मेरे अन्दर एक ज़िद थी कि बिदेसिया करना ही है। मैंने तो कभी सोचा ही नहीं था कि इस नाटक से इतनी प्रसिद्धि मिलेगी, बस मन के कोने में यही एक बात थी कि इसे लेकर दूर तक जाया जा सकता है, और वो बात आख़िर सही निकली।

संभावनाएँ हैं नृत्य, अभिनय, गायन, कहानी और चरित्र चित्रण तो ज़बरदस्त है। लोक नाट्य की परंपरा में ये नाटक फिट बैठता है और भाषा भी भोजपुरी है जिससे मैं अच्छी तरह परिचित हूँ। इसके माध्यम से रंगमंच की भाषा भी गढ़ सकते हैं। इन सभी के साथ भिखारी ठाकुर की लोकप्रियता। यह नाटक एक काव्यात्मक रूपक की तरह था। मैंने इसे अपने तरीके से एडिट किया। इसमें तरह-तरह के शिल्प थे, स्ट्रक्चर थे, बहुत लोच और प्रयोगात्मकता थी। इसलिये मेरा रुझान इसकी ओर हुआ। मुझे हतोत्साहित भी किया गया। लेकिन मेरे अन्दर एक ज़िद थी कि इसे करना ही है। और मैंने तो कभी सोचा ही नहीं था कि इस नाटक से इतनी प्रसिद्धि मिलेगी, बस मन के कोने में यही एक बात थी कि इसे लेकर दूर तक जाया जा सकता है, और वो बात सही निकली। कभी-कभी लगता है बस यही खोज रहा था और वो मिल गया। ये सब अचानक हुआ, अलग से कुछ प्लानिंग नहीं थी।

किसी भी नाट्य शैली या नाटक को जब हम प्रस्तुत करते हैं तो वह हर बार एक आधुनिकता के साथ खड़ा होता है और आधुनिक परिप्रेक्ष्य में हम उसमें वही रेलेवेन्सी ढूँढते हैं जिससे हम उससे जुड़ बहुत सारी संभावनाएँ उसमें जन्म लेती हैं। आज भी जब मैं बिदेसिया करता हूँ तो वो मेरे लिये नया होता है। शायद यही वजह है जिससे उस नाटक में इतनी शक्ति है जो अब भी ऊर्जा से भर देती है।

सतर्कता की बात जहाँ तक है तो नाटक में कोई नियम नहीं होता। नाटकों में समय के साथ परिवर्तन होता है और टेक्नॉलॉजी का होता है। स्वाद बना रहे पर उससे भूख नहीं मिट सकती। उसी तरह नाटक का अपना अनुशासन है, अपनी ज़रूरतें हैं, प्राथमिकताएँ हैं। आधुनिकता का खुलकर इस्तेमाल हो। नाटक तो प्रयोगधर्मी होता है प्रयोग से ना डरें। लेकिन सतर्क भी रहें। जो हमेशा ऊँचाई पर ले जाए, एक स्तर से अगले स्तर पर ले जाये जो प्रयोजनमूलक हो। हाँ...। जो बात संभव नहीं है उसे टेक्नॉलॉजी के सहारे किया जा सकता है। कहीं भी परहेज़ नहीं होना चाहिए। मैं इतना फण्डामेन्टलिस्ट नहीं हूँ। नाटक में सब है ये प्योर आर्ट नहीं है। और हो भी नहीं सकता। इसमें अगर आधुनिकता का इस्तेमाल हो रहा है मल्टीमीडिया थियेटर हो रहा है तो उसे सराहा जाना चाहिए। लेकिन उसकी आत्मा नहीं मरनी चाहिए या जैसा लोग कहते हैं, उसकी खुशबू खत्म नहीं होने देना चाहिए।

Print to PDF without this message by purchasing novaPDF (http://www.novapdf.com/)

एन.एस.डी. तकनीक सिखाता है विचार नहीं

मेरी शुरुआती स्थितियाँ बहुत जुदा थीं। अपनी पढ़ाई पूरी करने के बाद घर वालों का प्रेशर नौकरी के लिए बढ़ने लगा। मेरे लिए तो कहीं से कहीं तक नौकरी करने का सवाल मन में था ही नहीं और ना रुझान था सिर्फ रंगमंच ही करना था। एन.एस.डी. के बारे में सुना तो बहुत था लेकिन दाखिले के बारे में सोचा नहीं था। इसके पीछे भी एक छोटी सी कहानी है। एन.एस.डी. जाने के पहले तक मैंने बिदेसिया और 'बकरी' ये दो नाटक निर्देशित कर बतौर निर्देशक अपनी पहचान बना ली थी। ये 86 की बात रही होगी। एक लड़का मेरे पास आया टेस्टीमोनियल के लिए एन.एस.डी. के फॉर्म में दो निर्देशकों से टेस्टीमोनियल लिखने का प्रावधान है। फॉर्म देखकर मेरे मन में लोभ आया और मैंने फॉर्म को फोटोस्टेट करवा लिया। मन में आया कि एन.एस.डी. का इन्टरव्यू देकर देखना चाहिए। इन्टरव्यू दिया और कॉल आ गया। मैं अब तक यही सोच रहा था यदि चुनाव हुआ तो अच्छा है और यदि नहीं तो न सही। चूँकि 10 साल का रंगमंच का अनुभव था उसी के आधार पर इन्टरव्यू दिया और सिलेक्शन हो गया। मेरे मन में बहुत सारी बातें चल रही थीं एन.एस.डी. पहुंचकर रंगमंच का विस्तृत फलक देखने का मौका मिलेगा। रंगमंच और देश दुनिया को समझने का मौका मिलेगा। बस मेरा उद्देश्य यही था कि वापस गाँव में ही थियेटर करूँगा। और हुआ भी यही। वापस लौटकर अपनी संस्था को और मजबूत बनाया, एक प्रोफेशनल रूप दिया। अगर मैं एन.एस.डी. नहीं जाता तो शायद स्थिति यह नहीं होती, पारिवारिक दबाव में आकर नौकरी कर रहा होता या कहीं असिस्टेंट डायरेक्टर होता। ज्यादा से ज्यादा आई.ए.एस., आई.पी.एस. होता। लेकिन दिल में जो था वह नहीं कर पाता और यह बात हमेशा परेशान करती। एन.एस.डी. ने मुझे रंगमंच को देखने समझने के लिए एक नयी दृष्टि प्रदान की। एन.एस.डी. तकनीक सिखाता है, विचार नहीं। विचार तो आपके अपने ही होते हैं। तकनीक सीखने के बाद जब आप प्रयास करते हैं तो पहले से बेहतर निकलता है।

कोई भी संस्थान नौकरी नहीं देता, सिर्फ रास्ता दिखाता है।

जब मैंने अपनी रंगयात्रा का पहला कदम बढ़ाया तब इतना एक्सपोजर नहीं था। हम नाटक के प्रमोशन का काम घर-घर जाकर करते थे, महीनों रिहर्सल करते थे। जो प्रतिबद्धता तब थी, वह अब नहीं है। उस वक्त जो जुनून थियेटर के प्रति था वह अब नहीं मिलता। पूरे देश में रंगमंच की यही स्थिति है। परिस्थितियाँ तो बदली ही हैं और अब लोगों की मानसिकता में भी अंतर आया है, अपेक्षाकृत महत्वाकांक्षा बढ़ गई है। सभी आज रंगमंच से जुड़ते हैं और उन्हें लगता है सिनेमा में चले जायें। आज 1-2 साल में ही उनमें सब्र नहीं रह जाता। ये सारी स्थिति हिन्दी रंगमंच के साथ है।

जिसके पास प्रतिभा नहीं होती वह भी गंभीरता से यदि प्रशिक्षण ले तो एक खास तरह की प्रतिभा को अर्जित कर सकता है। लंबी पारी खेलने के लिए प्रशिक्षण की आवश्यकता तो होती ही है। बिना प्रशिक्षित हुए किसी भी क्षेत्र में अच्छा काम नहीं किया जा सकता। फिर रंगमंच इतना आसान भी नहीं। क्यों कोई आम आदमी टिकट लेकर आपका नाटक देखेगा जब तक आपके भीतर कुछ ख़ास नहीं होगा। मैं अपवाद की बात नहीं कर रहा, आज ऐसे भी लोग हैं जो एन.एस.डी. से पास होकर कुछ नहीं कर रहे और ऐसे भी हैं जिन्होंने वर्षों साधना की और अच्छा काम कर रहे हैं किन्तु वे अपवाद हैं।

राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय द्वारा आयोजित भारत रंग महोत्सव भारतीय रंगमंचीय दुनिया में हर साल एक उत्सवी लहर लेकर आता है। आधुनिक भारतीय रंगमंच में इस समय अमूर्त प्रयोगों की बाढ़ सी आई है या यूँ कहें ये लादे जा रहे हैं, जिससे भारतीय रंगमंच कुछ कुछ आहत हो रहा है। संजय इस पर असहमती जताते हुए इन प्रयोगों को थियेटर को आगे बढ़ाने की सीढ़ी मात्र मानते हैं। उनका कहना है प्रयोग के स्तर पर या पोस्ट मॉडर्निज्म के नाम पर इमेजेज में, बिम्ब में काम किया जा रहा है। थियेटर से संवाद गायब होने लगे हैं। यदि कोई नाटक दिल को छू रहा है, उससे कुछ मिल रहा है तो उसे स्वीकार करने में कोई बुराई नहीं है। अगर प्रयोग अच्छा है तो उसे सराहा भी जाता है और यदि नहीं तो खारिज भी किया जाता है। नाटक एक डायरेक्ट मीडियम है, लोगों के द्वारा उसे तुरन्त रिस्पांस मिलता है। जिस तरह से ख़ास वर्ग के लिये ख़ास फिल्म होती है उसी तरह ख़ास वर्ग के लिये ख़ास नाटक। आम जनता का उससे कोई सरोकार नहीं होता। इन्हीं सब में 2-4 नाटक ऐसे भी होते हैं जो अपने संस्कार और सिद्धांतों को साथ लिए होते हैं। जिन्हें आम दर्शक सराहते हैं।

यह सभी जगह है, सिर्फ भारत में ही नहीं। हाँ इतना ज़रूर है कि सिनेमा के मुताबिक, विश्व रंगमंच स्तर के मुताबिक भारतीय रंगमंच पिछड़ा हुआ है इसलिये क्योंकि उसमें नुक्ताचीनी ज़्यादा है। प्रयोग करने पर दस विरोध करते हैं। मेरा सोचना है कि काम में खुलेपन की ज़रूरत है। बहुत स्कोप हैं प्रयोग के। तैरने देना चाहिए। शायद हम जिस पिछड़ेपन की बात कर रहे हैं वह इसे मिले। यह टिपिकल स्टेटमेंट कि रंगमंच मर रहा है, यही इसे पीछे ले जा रहा है। जबकि हमारा उद्देश्य इसे आगे ले जाना है। थियेटर वही है जो समाज को गति दे, आंदोलित करे, बेहतर समाज की कल्पना करे। भारतीय रंगमंच को अभी और आगे बढ़ना है, अभी तो हम शैशवावस्था में हैं। हम सभी इस दौड़ में 30 से 40 साल पीछे हैं। हमें वहाँ तक दौड़कर पहुंचना है। इसके लिए खुलकर प्रयोग करने चाहिए। यह डर नहीं होना चाहिए कि इससे हम आहत होंगे।

Print to PDF without this message by purchasing novaPDF (http://www.novapdf.com/)

दुर्भाग्य से अखबारों में नाटक की आलोचना गुम है। अखबारों में तो सिर्फ ख़बर छपती है। नाटक की ठीक समालोचना के लिये आवश्यक है कि कोई रंगकर्मी, जानकार दर्शक या प्रशिक्षित व्यक्ति ही नाटक पर टिप्पणी करे। इसके लिये विधिवत ट्रेनिंग आवश्यक है। नाट्य विद्यालयों में इससे संबंधित विषय होना चाहिए। स्वस्थ आलोचना के लिये रंगकर्म से जुड़े, अच्छी समझ रखने वाले लोगों का इस क्षेत्र में आना आवश्यक है। म.प्र. रा. ना. वि. का वर्ष 2011 में नाट्य प्रशिक्षण संस्था के क्षेत्र में नवांकुरित बीज के रूप में उदय हुआ है। एन.एस.डी. की तर्ज़ पर इसके उद्देश्यों, आयामों को वे साझा करते हैं- शुरुआती दौर में किसी भी संगठन की अपनी मौलिकता होती है। एन.एस.डी. बड़ी संस्था है। एशिया का एकमात्र बड़ा संगठन है। हम अभी शुरुआती दौर में हैं। अभी तो वृक्ष बनना है। छात्र बाहर निकलकर क्या रिजल्ट देते हैं, तब देखेंगे। अभी तो सिर्फ काम करना है। एस.एस.डी., एन.एस.डी. से बिल्कुल अलग है क्योंकि हम हिन्दी केन्द्रित नाटक कर रहे हैं। हमारी अभिव्यक्ति का मूल स्वर हिन्दी ही है। इसके अलावा हमारा लक्ष्य लोक शैली भी है। दूसरा, हमारा रंगमंच घूमन्तु रंगमंच है। हम थियेटर ऑन व्हील्स की तर्ज़ पर काम कर रहे हैं। हम सभी लोक क्षेत्रों में, अंचलों में घूम कर वहाँ की लोक शैलियों को देखकर उसे अपनी शिक्षण प्रणाली में डालते हैं।

रंगमंच हमेशा नया ही होता है। जब करें तब नया है। पूरे जीवन में एक या दो काम ही होते हैं जो नये होते हैं, सिग्नेचर वर्क होते हैं। बहुत सालों में एक क्लासिक रचना बनती है, बार-बार नहीं। रोज़ नाटक, उपन्यास लिखे जा रहे हैं लेकिन नाटक का दर्जा बहुत कम नाटकों को मिलता है।

एन.एस.डी. से अलग होने का एक कारण यह भी है कि कम संसाधन में ज्यादा ट्रेनिंग देना चाह रहे हैं। वह कहा जाता है ना अभावों में सृजन होता है। एन.एस.डी. का पाठ्यक्रम ज़्यादातर पाश्चात्य पर ही आधारित है और हमारा शास्त्रीयता, लोकशैली, हिन्दी रंगमंच पर। इसी के साथ हमारी कोशिश यही है कि एक मुकम्मल अभिनेता के रूप में हमारे छात्र पूरी तैयारी के साथ निकलें। ऐसा न हो कि दुनिया के तमाम थियेटर को देखकर भी कुछ हासिल ना कर पायें।

रंगमंच हमेशा नया ही होता है। जब करें तब नया है। पूरे जीवन में एक या दो काम ही होते हैं जो नये होते हैं, सिग्नेचर वर्क होते हैं। बहुत सालों में एक क्लासिक रचना बनती है, बार-बार नहीं। रोज़ नाटक, उपन्यास लिखे जा रहे हैं लेकिन नाटक का दर्जा बहुत कम नाटकों को मिलता है। इसी तरह हम भी रुटीन वर्क ही करते हैं और कभी-कभी कोई काम आपके लिये और लोगों के लिये यादगार होता है। इस नज़रिये से अभी जो एस.एस.डी. के विद्यार्थियों के साथ 'गगन दमामा बाज्यो' किया विद्यार्थियों के साथ पढ़ाई के ख़्याल से और भाषा के परिदृश्य से वो एक अलग काम था।

बहुत दिनों के बाद एक नाटक किया जिसमें ऊर्जा थी तालियों का इस्तेमाल किया, स्पेस कटिंग की अलग-अलग फॉरमेशन्स बनाए। हम सभी के लिये एक अलग ही मज़ा रहा। रंग संगीत पर भी बच्चों को सिखाना है।

दो-तीन नये काम और करने हैं। जैसे भिखारी ठाकुर के जीवन पर एक नाटक 'बटूही' ऋषिकेश सुलभ का लिखा है उसे तैयार कर रहा हूँ। दलित कवि 'हीराडोंग' उनके ऊपर भी फिर से काम करना है। मृच्छकटिकम् को दोबारा करना है। एक सर्जक के अंदर जो छटपटाहट होती है इस समय उससे गुजर रहा हूँ। बहुत दिन हुए कुछ नया काम किये, पर वो ऐसे नहीं होगा। जिस तरह दिन भर कलम लेकर बैठने से कविता नहीं लिखी जाती उसी तरह सोचते रहने से नया काम नहीं होता, अचानक प्रस्फुटन होता है और इसके पीछे एक पूरी प्रक्रिया है।

रंग संगीत प्योर संगीत नहीं होता। वह एप्लाईड म्यूजिक है प्रयोजन मूलक होता है। वह स्टेटमेंट ओरियेन्टेड होता है। इंटरप्रिटेटिव, विश्लेषण योग्य होता है। नाटक में मूड क्या है, परिवेश क्या है, किस काल का नाटक है, संगीत बहुत हद तक इस पर आधारित है। रिप्रेजेंटेटिव जिसको कहते हैं। नाट्य संगीत किसी विशेष शैली या राग रागिनियों पर आधारित नहीं होता। इसमें शास्त्रीय संगीत भी है, लोक संगीत भी फिल्मी संगीत भी। जैज़ भी, ट्राइबल भी, देशभक्ति भी, जनवादी संगीत भी है। यह सबका मिला जुला रूप होता है। यह सब करता है। यदि शास्त्रीय नाटक है तो ज़रूरी नहीं कि शास्त्रीय संगीत से ही बनाया जाये। उसमें लोक नाट्य शैलियों के माध्यम से भी एण्टर कर सकते हैं। लोक नाट्य में शास्त्रीयता के माध्यम से नया रूप दे सकते हैं। तो ये इण्टरप्रिटेटिव होता है।

नाट्य संगीत में स्वर की प्रधानता भी होती है। उसमें ज़्यादातर गाना कम्पोज भर कर देने से ही नाट्य संगीत नहीं हो जाता, पूरा नाटक कम्पोज करना होता है। जिस तरह से लाइट डिजाइनर पूरे नाटक की लाइट डिजाइन करता है उसी तरह हम भी पूरे प्ले के स्ट्रक्चर को देखते हुए संगीत बनाते हैं। रंग संगीत भी नाटक में एक चरित्र की तरह आता है। उसकी परिस्थितियों को कांट्रीब्यूट करता है। इसीलिये यह प्योर म्यूजिक नहीं है। इसे किसी मात्रा में set करके नहीं बनाया जाता। इसमें वाद्य यंत्रों की प्रधानता होती है। क्रियेटिव म्यूजिक है। क्रियेटिव इफेक्ट्स पैदा करना। संगीतकार को ज्ञातव्य होना चाहिए कि वैश्विक स्तर पर क्या काम हो रहा है। देश की शैलियों में क्या है, कितने तरीके का नृत्य और संगीत है। कितने तरीके के वाद्ययंत्र हैं। सिनेमा का संगीत कैसा था, कैसा है। इन सबके प्रति जानकारी होनी चाहिए। किसी एक शैली में बँधकर नहीं रहना है।

कारंत जी ने जो प्रयोग किये उसके बाद ही लोगों ने रंग संगीत को लेकर काम करना शुरु किया। बिदेसिया को करने के बाद ही से सब किया। बड़ों को देखा कारंत जी, मोहन जी, भास्कर चंद्रावरकर, पंचानन पाठक जी इन सबसे सीखकर, यही अपने अंदर खोजा और अपने अंदर की संगीत की उथल-पुथल को बाहर निकाला। ब्रेख्त के नाटकों में भी संगीत दिया, शास्त्रीय में, लोक और नौटंकी में तो करता ही आया हूँ। भवई पर भी काम किया।

Print to PDF without this message by purchasing novaPDF (http://www.novapdf.com/)

स्मृति शेष : यश चोपड़ा

प्रेमिल छवियों का अनूठा चितेरा

सुनील मिश्र

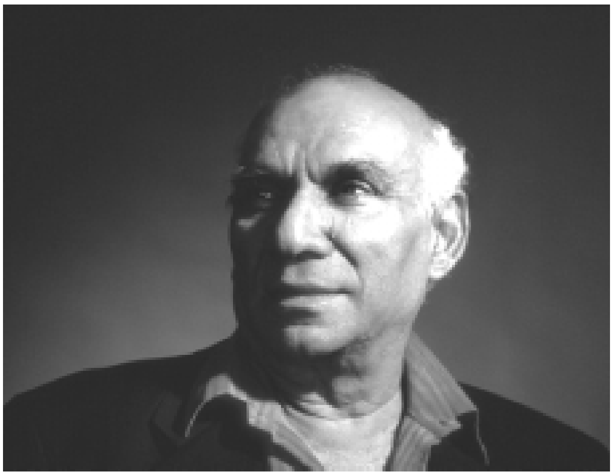

यश जी का जाना एक साथ बहुत सारे प्रश्न खड़े करता है। कुछ ही दिन पहले जब इस बात की चर्चा चली कि भले फिल्म का नाम तय नहीं हो पा रहा है, यश जी उसकी चिन्ता किये बग़ैर अपनी फिल्म को पूरी करने में जुटे हैं। अस्सी प्रतिशत से ज़्यादा फिल्म पूरी हो गयी है। जल्दी ही फिल्म को 'जब तक है जान' नाम मिल गया और कुछ दिन से उसकी झलकियाँ चैनलों को गुलज़ार कर रही थीं कि अचानक इस हादसे की खबर मिलती है। उनकी नयी फिल्म का प्रोमो इस घटना के साथ ऐसे जुड़ गया है जैसे इस बात का प्रतिवाद हो कि यश जी चले गये। अभी यश जी कैसे जा सकते हैं? अगले महीने फिल्म को रिलीज होना है लेकिन ऊपरवाला जीवन और मृत्यु के फ़ैसले अपनी तरह कर देता है और हम उन फ़ैसलों के बाद सहमति-असहमतियों की स्थितियों में होने के बावजूद स्वीकार का विवश जीते हैं।

वास्तव में यश चोपड़ा का जाना हिन्दी सिनेमा के ऐसे बड़े और पितामह फिल्मकार का जाना है जो यथार्थ के साथ-साथ सिनेमा की एक विशेष और सदाबहार धारा, हमेशा नब्ज़ में रुधिर के साथ बहने वाले प्रेम के अनूठे पारखी थे। यह गुण अपनी विलक्षण ख़ूबियों में केवल उन्हीं के पास संरक्षित था।

यश चोपड़ा ने सिनेमा अपने बड़े भाई बी.आर. चोपड़ा के सान्निध्य में ही सीखा था। उनसे बातचीत में नया दौर का ज़िक्र आया जिसमें वे अपने भाई के सहायक थे। इस फिल्म की तांगा दौड़ और क्लायमेक्स, एक गाना भी, भोपाल-होशंगाबाद के निकट बुदनी में फिल्माये गये थे। तब वे यहाँ लगातार आते और काम करते थे। वे बताते हैं कि जिस रेल से यूनिट को लेकर आने का उनको ज़िम्मा मिला होता था वह होशंगाबाद के बाद सीधे भोपाल रुका करती थी, बुदनी पर नहीं जबकि हम सबको बुदनी में उतरना आसान होता था। तब मैं हमेशा बुदनी आने पर चेन खींचकर गाड़ी रुकवा लिया करता था। हम सब उतर भी जाते थे और पूरा जुर्माना भी अदा करते थे, रेल का। जिस वक्त उनसे यह बातचीत हुई थी, उस वक्त बी.आर. चोपड़ा का निधन हो चुका था। यश चोपड़ा तो आगे चलकर धूल का फूल, धर्मपुत्र, आदमी और इन्सान और फिर वक़्त जैसी बहुल सितारा सुपरहिट बनाकर निर्देशक के रूप में स्थापित हुए और आगे हमेशा अपने बड़े भाई से उलट सिनेमा बनाया मगर उस दिन बात करते हुए वे भावुक हुए और बड़े भाई को पिता की तरह बतलाते हुए उन्होंने कहा कि मैंने जो कुछ सीखा, उन्हीं से सीखा। यदि उनका सन्निध्य न मिला होता तो आज मैं इस मुकाम पर न होता।

वास्तव में यश चोपड़ा का जाना हिन्दी सिनेमा के ऐसे बड़े और पितामह फिल्मकार का जाना है जो यथार्थ के साथ-साथ सिनेमा की एक विशेष और सदाबहार धारा, हमेशा नब्ज़ में रुधिर के साथ बहने वाले प्रेम के अनूठे पारखी थे। यह गुण अपनी विलक्षण ख़ूबियों में केवल उन्हीं के पास संरक्षित था।

यश चोपड़ा निर्देशित फिल्म वक़्त पहली मल्टी स्टार कास्ट फिल्म थी जिसने गोल्डन जुबली मनायी थी। राजकुमार, सुनील दत्त और शशि कपूर के साथ वज़नदार खलनायक रहमान के साथ संवादों और जज़्बातों का एक अनूठा ड्रामा उन्होंने रचा था। राजकुमार और रहमान का ही वो डायलॉग है, चिनॉय सेठ, शीशे के घरों में रहने वाले दूसरों पर पत्थर नहीं फेंका करते। 'दीवार' बनाते हुए उन्होंने अपने आपको एक स्वतंत्रचेता के रूप में देखा। यहाँ से उनकी एक दूसरी यात्रा शुरू हुई जिसमें उनकी अपनी स्वयं की निर्माण संस्था यशराज फिल्म्स की स्थापना हुई। दीवार में भी डायलॉग हैं, मेरा बाप चोर है, जाओ पहले उस आदमी का साइन लेकर आओ, माँ जायेगी, भगवान मेरे गुनाहों की सजा मेरी माँ को मत देना जैसे वाक्य आज भी हमारे दिल में ज्यों के त्यों रखे हुए हैं। यश जी ने दाग, कभी-कभी, त्रिशूल, सिलसिला, चांदनी, लम्हे, डर, दिल तो पागल है, वीर-ज़ारा जैसी फिल्में बनायीं जिनके साथ अलग-अलग कहानियाँ और इतिहास जुड़े हैं। 'कभी-कभी' में प्रेम की परणति के पहले ही हादसा है, एक साथ कई जिन्दगियाँ हैं जो घुटन के साथ जी रही हैं। 'त्रिशूल' में प्रेम की बेवफ़ाई है और नायक का प्रतिशोध जिसमें हम बीड़ी से डायनामाइट में आग लगाकर धीमी चाल से हमारी तरफ कदम बढ़ाते हुए नायक को देखकर सीटियाँ बजाते हैं। 'काला पत्थर' में एक पराजित नायक है जो

Print to PDF without this message by purchasing novaPDF (http://www.novapdf.com/)

कोयले की खदान में अपने प्रायश्चित को जी रहा है। 'सिलसिला' में वे उस समय की उस पूरी घटना से ही फिल्म को गढ़ते हैं जिसके सच और अफ़वाह का सच दर्शक आज तक भले जान न पाया हो, लेकिन उससे कभी असहमत भी नहीं हो पाया और वह घटना, खबर अमिताभ बच्चन और रेखा के रोमांस की थी। 'चांदनी' की मोहब्बत खूबसूरत है, 'लम्हे' की मोहब्बत एक अलग बहस को जन्म देती है, 'दिल तो पागल है' में फिर एक फिलॉसफी है और हम रिश्ते ऊपर से तय होकर आते हैं या जमीन पर बनते हैं, उनके बीच की अवधारणा, जो कि ज़ाहिर है, यश जी द्वारा ही स्थापित की जाती है, के आगे नत-मस्तक होते हैं। वीर-ज़ारा को यश जी का एक महान प्रयोग माना जाना चाहिए।

यश चोपड़ा की अपनी ख़ासियत थी, उनका होमवर्क। इसके बग़ैर उन्होंने कभी अपनी फिल्म की शुरुआत नहीं की। फिल्म शुरू करने के पहले उनके जहन में उस फिल्म की ख़ूबियों के आयाम इकट्ठा हुआ करते थे। उनकी फिल्मों का छायांकन, लोकेशन, कास्ट्यूम, गीत-संगीत सब कुछ महकता सा प्रतीत होता था। सिलसिला, चांदनी, लम्हे के संगीतकार शिव-हरि थे। एक बार पण्डित हरिप्रसाद चौरसिया ने कहा था कि उनकी फिल्मों में संगीत देते हुए जो एक सबसे बड़ी बात हमको यह महसूस हुई कि हमारी दृष्टि और समझ को उन्होंने मान दिया और माधुर्य के हमारे सृजन से वे खुशी-खुशी सहमत हुए। उनकी फिल्मों के नायक-नायिका, वक़्त के साथ बदलते रहे हैं मगर ऐसे बहुत से कलाकार हैं, जो लगातार साथ चले और उनकी फिल्मोग्राफी में यश जी की फिल्म का होना एक अर्थ बना। अमिताभ बच्चन, राखी, ऋषि कपूर, शाहरुख खान, श्रीदेवी, हेमा मालिनी, वहीदा रहमान और विशेष रूप से अचला सचदेव का ज़िक्र जो वक़्त से उनके साथ बाद तक आती रहीं, विभिन्न चरित्र भूमिकाओं में, इन सभी का सिनेमा के साथ ही सही एक परिवार यश जी के साथ बना। आज के समय में अपनी उम्र के वे अकेले सक्रिय फिल्मकार थे।

यश चोपड़ा का विश्लेषण बड़ी व्याख्या के साथ हो सकता है और वह संसार असीमित है। दो साल पहले 13 अक्टूबर को वे राष्ट्रीय किशोर कुमार सम्मान प्राप्त करने मुम्बई से इन्दौर होते हुए खण्डवा आये थे। उस वक्त का दो दिन का उनका सान्निध्य याद आ रहा है। इन्दौर-खण्डवा मार्ग पर आते-जाते हुए बहुत सारी बातें उनके सृजन और दृष्टि को लेकर हुई थीं। देर रात एक अच्छी बातचीत भी। एक तो अपने सारे एक्सीलेंस का श्रेय अपने बड़े भाई को देना यहाँ पर याद आ रहा है, और खण्डवा जाते हुए रास्ते में गन्ने के रस की चरखी देखकर रस पीने की इच्छा व्यक्त करना भी। उन्होंने बहुत कुछ साझा किया था, जो सुना, समझा था वह एक महान फिल्मकार को और नज़दीक से जानने का परम सौभाग्य ही था और दुर्लभ अवसर, इसके सिवा कुछ नहीं।

श्रद्धा के फूल...

मशहूर सिने गायक स्वर्गीय किशोर कुमार के गृह नगर खंडवा (मध्यप्रदेश) में मध्यप्रदेश सरकार द्वारा स्थापित राष्ट्रीय किशोर कुमार सम्मान ग्रहण करने पधारे यश चोपड़ा ने किशोर की समाधि पर पुष्प अर्पण किये।

Print to PDF without this message by purchasing novaPDF (http://www.novapdf.com/)

* सृजन के आसपास *

पाठ : निरंजन श्रोत्रिय

वनमाली सृजन पीठ का 'रचना प्रसंग'

साहित्य, संस्कृति और कलाओं के लिए समान रूप से सक्रिय वनमाली सृजन पीठ, भोपाल द्वारा कविता केंद्रित दो दिवसीय 'रचना प्रसंग' नए विमर्शों और प्रस्तावों की आहट लिए संम्पन्न हुआ। समारोह में समकालीन कविता के दो महत्वपूर्ण हस्ताक्षर राघवेन्द्र तिवारी और निरंजन श्रोत्रिय की रचनाधर्मिता ने नई वैचारिक कौंध जगाई वहीं इन कृतिकारों के बहाने आलोचक वक्ताओं की बेलौस टिप्पणियों ने महत्वपूर्ण सूत्र दिए।

'रचना प्रसंग' की पहली शाम सुपरिचित कवि और रेखा चित्रकार राघवेन्द्र तिवारी के कविता संग्रह 'स्थापित होता है शब्द हर बार' का लोकार्पण प्रसिद्ध कवि कुमार अंबुज, कथाकार चिंतक संतोष चौबे, कवि राजेश जोशी और आलोचक राम प्रकाश ने मिलकर किया। इस अवसर पर राघवेन्द्र तिवारी ने विमोचित काव्य संग्रह से बाप की कमीज, आर्ट गैलरी, मीता मौसी के लिए, मौसम, जिसे रोटी कहते हैं, चिट्ठी, बचेगा नीम, मलिन बस्तियाँ, पुरावशेष, छिपकली आदि कविताओं का पाठ किया।

रचना प्रसंग की दूसरी शाम निरंजन श्रोत्रिय के एकल रचना पाठ ने विचार और अनुभव की नई ऊर्जा प्रदान की। लगभग एक घंटे के दौरान श्रोत्रिय ने एक दर्जन के करीब अपनी चुनी हुई कविताओं का पाठ किया। वरिष्ठ प्रशासनिक अधिकारी और कवि पंकज राग बतौर अध्यक्ष इस गोष्ठी में मौजूद थे। इस अवसर पर श्री राग सहित कवि-कथाकार संतोष चौबे, कवि राजेन्द्र शर्मा, आलोचक मुकेश वर्मा और कला समीक्षक विनय उपाध्याय आदि ने निरंजन को आज का सजग और विचारवान कवि बताया।

युवा रचनाकारों का काव्य विनोद

आषाढ़ की एक कजरारी शाम भोपाल की कविता का आँगन जीवन की मटियारी महक और इंसानी समय के हालातों से जूझती ताकत का उम्मीद भरा पैगाम बना। साक्षरता मिशन में जुटे राज्य संसाधन केन्द्र और साहित्य-संस्कृति के लिए समर्पित वनमाली सृजन पीठ, भोपाल के साझा संयोजन में हुए इस अनूठे उत्सव में ख्यात कवि और आलोचक संतोष चौबे ने कविता के नए स्वरों का स्वागत करते हुए कहा कि आज की कविता ने गैर राजनीतिक रुख अपनाते हुए अपनी जमीन और जीवन की वर्तमान गति को अभिव्यक्ति का विषय बनाया है। एक लंबे अंतराल के बाद सृजन के परिसर में युवा कवियों की दस्तक ने उत्साह और नये विश्वास की आहट दी। चर्चित कवि बलराम गुमास्ता की अध्यक्षता में हुए रचना पाठ में आमंत्रित कवियों महेन्द्र गगन, प्रेमशंकर शुक्ल, राग तेलंग, कुमार सुरेश, विनय उपाध्याय, हेमंत देवलेकर, मोहन सगोरिया, पंकज शुक्ला, बसंत सकरगाए, दीपक पगारे, सोनाली पारे और सुदीप सोहनी ने सामाजिक-सांस्कृतिक सरोकारों और विशेषकर साक्षरता को रेखांकित करती कविताएँ सुनाईं।

अपने अध्यक्षीय उद्‌बोधन में गुमास्ता ने कहा कि भूमंडलीकरण और बाज़ार के बीच कविता हिंसा और भय से कसमसा रही है। लेकिन कविता में ही जीवन के जटिल सवालों के हल खोजने की कवायद

कवि महेन्द्र गगन,संतोष चौबे और बलराम गुमास्ता

Print to PDF without this message by purchasing novaPDF (http://www.novapdf.com/)

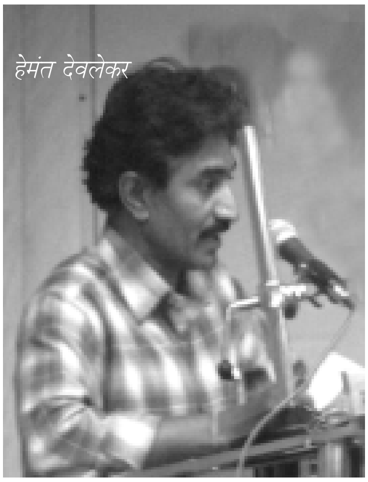
हेमंत देवलेकर

जारी रखना होगी। कार्यक्रम का संचालन करते हुए कवि-कला समीक्षक विनय उपाध्याय ने युवा प्रतिरोध की नयी दिशाओं का संकेत किया। राज्य संसाधन केन्द्र के प्रभारी निदेशक संजय राठौर और प्रशासनिक अधिकारी संदीप श्रीवास्तव ने बताया कि कविता के साथ ही अन्य कला विधाओं को भी साक्षरता-अभियान का हिस्सा बनाया जायेगा।

कविता की पाठ परंपरा में अपनी अभिव्यक्ति का नया रंग बिखेरते हुए हेमंत देवलेकर ने शिशु मनोविज्ञान की मार्मिक कविता प्रस्तुत की। भाषा और कहन की शैली का प्रभाव बिखेरती इन रचनाओं के बाद प्रेमशंकर ने 'धूप की वर्णमाला' शीर्षक कविता में कहा- 'जीने के लिए हमें बार-बार मरना पड़ता है'। उन्होंने साक्षरता से जुड़ी व्यापक सरोकारों की कविता का भी मर्मस्पर्शी पाठ किया। सुपरिचित कवि महेन्द्र गगन ने 'पाप-पुण्य' कविता में आगाह किया- नदियों से पुण्य की अंजुरी भरने वालों, नदियों को अपने पुण्य दो, नहीं तो तुम्हारे पापों को लौटाती रहेंगी नदियाँ...। राग तेलंग ने पानी और पेड़ पर लिखी कविता के जरिये पर्यावरण और मनुष्य के आपसी रिश्तों को रेखांकित किया। कुमार सुरेश ने व्यंग्यात्मक लहज़े में मानवीय प्रवृत्तियों पर कटाक्ष किया। बसंत ने बच्चों का कुतूहल जगाती सुन्दर कविता 'शरद का चाँद' तथा कस्बे की भावुक यादें जगाती रचना 'हरसूद में बाल्टियाँ' सुनाकर गोष्ठी को नया मोड़ दिया। पंकज ने प्रगति के नए सोपान की आहट जगाई- 'आज उसकी आँखों में सपने हैं, कल हाथों में ताकत, तब बदलेगी सूरत'। मोहन सगोरिया ने 'नींद' शीर्षक कविताओं में नयी विश्व दृष्टि और मन के विज्ञान को बाँचने की कोशिश की। विनय उपाध्याय ने अपने प्रभावी कविता पाठ की मिसाल कायम करते हुए 'डायरी' के पन्ने पर लिखी जीवन की इबारत खुलासा की- ''नयी डायरी के सामने अब भी उजले हैं पुराने हस्ताक्षर''...। दीपक पगारे की कविता ने संभावना का नया स्वर उकेरा। वहीं सुदीप जैसे नवोदित कवि ने 'पेन्सिल' को विषय बनाती कविता में बचपन के पहले अक्षर ज्ञान का बखान किया। सोनाली पारे ने भी कविताई बानगियों में मन का विश्वास बिखेरा। अंत में एस.आर.सी. के कार्यक्रम समन्वयक इमत्याज़ ख़ान ने आभार माना।

मोहन सगोरिया

तीजन बाई का हैदराबाद में सम्मान

सुद्दाला फाउण्डेशन (सुद्दाला हनुमंतु जानकम्मा लोककला पीठ), हैदराबाद द्वारा प्रदान किया जाने वाला सुद्दाल हनुमंतु राष्ट्रीय पुरस्कार' इस वर्ष छत्तीसगढ़ की प्रसिद्ध पंडवानी गायिका पद्मभूषण डॉ. श्रीमती तीजन बाई को दिया गया। छत्तीसगढ़ की लोकआख्यान शैली 'पंडवानी' को देश और दुनिया में प्रसिद्धि दिलाने वाली और पूरी निष्ठा से लोकसंस्कृति की सुदीर्घ साधना करने वाली तीजन बाई को पुरस्कार के रूप में पच्चीस हजार रु. की सम्मान निधि एवं सम्मान पत्र दिया गया। हैदराबाद के रवीन्द्र भारती सभागार में यह कार्यक्रम आयोजित हुआ। लोककला एवं साहित्य के क्षेत्र में विशेष योगदान देने वाले रचनाधर्मियों को यह पुरस्कार विगत दो वर्षों से प्रदान किया जा रहा है। पूर्व में यह पुरस्कार बी नरसिंहराव एवं जनकवि 'गद्धर' को दिया गया था।

भातखण्डे-पलुस्कर स्मृति समारोह

इंदिरा कला संगीत एवं कला विश्वविद्यालय, खैरागढ़, छत्तीसगढ़ के तंत्री विभाग द्वारा भारतीय शास्त्रीय संगीत की दो महान विभूतियों पं. भातखंडे एवं पं. पलुस्कर की स्मृति में एक संगीत समारोह आयोजित हुआ। प्रथम दिन के सत्र में लखनऊ के डॉ. तेजसिंह टाक ने 'पं. भातखण्डे द्वारा निर्दिष्ट संगीत सिद्धांत' पर अपना विद्वत्तापूर्ण व्याख्यान प्रस्तुत कर छात्रों को ज्ञान से आलोकित किया। कार्यक्रम के मुख्य अतिथि वाराणसी के प्रो. आर.एस. जायसवाल थे एवं विश्वविद्यालय की कुलपति प्रो. मांडवी सिंह ने अध्यक्षता की। संध्याकालीन संगीत सभा में गायन विभाग के छात्रों ने भातखंडे जी की बन्दिशों को राग यमन व भूपाली में प्रस्तुत किया। वि.वि. तंत्री विभाग के शोध छात्र व मैहर घराने के युवा सितार वादक सिद्धार्थ शंकर शुक्ला ने राग कौसी कान्हड़ा का ध्रुपद अंग से वादन किया तथा मांड पर धुन प्रस्तुत कर श्रोताओं की प्रशंसा प्राप्त की। तबले पर सुरेश भट्ट की संगत ने भी वाहवाही लूटी।

प्रथम दिन की प्रस्तुति में वाराणसी के डॉ. रामशंकर ने राग रामदासी मल्हार व राग तिलक कामोद में बड़ा ख्याल एवं छोटा ख्याल प्रस्तुत किया। राग भैरवी में टप्पा और दादरा से संगीत सभा का समापन हुआ। तबले पर प्रदीप मोघे और हारमोनियम पर सतीश इंदूरकर की कुशल संगत रही। दूसरे दिन सुबह के सत्र में नागपुर की डॉ. साधना शिलेदार ने 'पं. पलुस्कर की परंपरा में कुमार गंधर्व' पर अपने प्रदर्शन व्याख्यान से सभा को रसमयता प्रदान की। शाम की संगीत सभा में प्रो. वीणा विश्वरूप के निर्देशन में छात्रों ने पलुस्करजी

Print to PDF without this message by purchasing novaPDF (http://www.novapdf.com/)

की रचनाओं के गायन के पश्चात् शिवनारायण मोरे ने एकल तबला वादन प्रस्तुत किया। वॉयलिन वादक प्रवीण शेवलीकर ने राग मियाँ मल्हार में आलाप, जोड़, झाला प्रस्तुत कर श्रोताओं को रसविभोर कर दिया। संचालन डॉ. नमन दत्त ने किया। संयोजक तंत्र वाद्य विभागाध्यक्ष प्रो. प्रकाश महाड़िक ने आभार व्यक्त किया।

राष्ट्रीय नाट्य समारोह

रंगमंच वह कला-भूमि है जहाँ सतत् प्रयोग और पुनराविष्कार ही प्रस्तुतियों में नयी जान फूँकते हैं। नाट्य शास्त्र भी यही कहता है कि परंपराओं का समकाल और नए प्रयोग दोनों ही नाटक में समाहित होने चाहिए। इन्हीं दो धाराओं की तनी रस्सी पर एक कुशल नट की

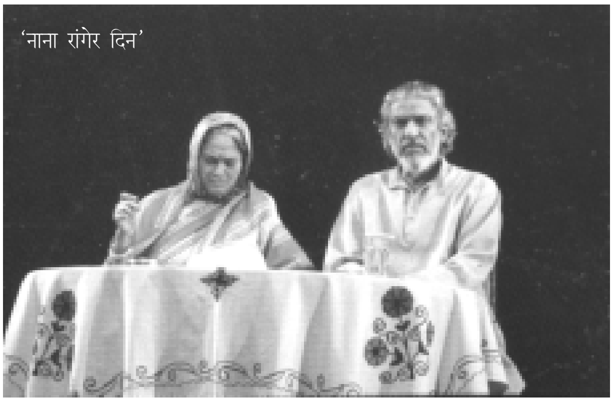

'नाना रांगेर दिन'

तरह चला राष्ट्रीय नाट्य समारोह दिनांक 20 से 26 अक्टूबर 2012 तक भारत भवन में आयोजित हुआ। इस समारोह में देश के शीर्षस्थ नाट्य निर्देशकों के नाटक देखने का सुयोग दर्शकों को मिला। अपने समय की मूल्यहीनता और पतनशील मनुष्यता की चिंता सभी नाटकों का मूल स्वर रही।

समारोह का शुभारंभ ख्यात निर्देशक रंजीत कपूर के प्रसिद्ध नाटक 'चेखव की दुनिया' से हुआ। एंतोन चेखव की चार कहानियों को कलाकारों के सजीव अभिनय से गूँथा गया था। चेखव बने सुनील उपाध्याय का आत्मविश्वास भरा अभिनय दर्शकों को छू गया।

दूसरी प्रस्तुति निर्माण कला मंच, पटना की 'बिदेसिया' थी। 'बिदेसिया' से राष्ट्रीय स्तर पर पहचान पाने वाले निर्देशक संजय उपाध्याय का यह नाटक बिहार के जनपद की एक विरह गाथा है। भिखारी ठाकुर के मूल नाटक में लोकनाट्य और लोकसंगीत की अद्भुत साझेदारी निर्देशक की सतत् प्रयोगधर्मिता से संभव हो पाई है। तीसरी प्रस्तुति बहारूल इस्लाम निर्देशित 'अक्स' की रही। यह नाटक भावेंद्रनाथ साइकिया की हास्य कथा पर आधारित है। जिसमें विवाह के पूर्व होने वाले स्वाभाविक प्रेम प्रसंगों की मनोवैज्ञानिक ढंग से पड़ताल की गई है।

चौथी प्रस्तुति ख्यात रंग आचार्य भारतरत्न भार्गव के निर्देशन में 'सुग्गाबाबा' की रही। लोककथा पर आधारित इस नाटक में प्रकृति से मनुष्य के साहचर्य की कथा है। वनस्पतियाँ और पशु-पक्षी आज़ादी और मानव का आत्मीय संरक्षण चाहते हैं, इस संदेश को कुशल रंगमंचीय व्यापार के माध्यम से व्यक्त करने में यह नाटक सफल रहा। समारोह की पाँचवी शाम नटरंग, जम्मू ने 'घुमाई' का मंचन किया। डोगरी लोककथा पर आधारित 'घुमाई' में अपनी पत्नी के प्रति पति के कर्तव्यों की बात बहुत मर्मस्पर्शी ढंग से मंचित हुई है। जम्मू की मिट्टी की खुशबू से रचे-बसे, इस नाटक का निर्देशक सुविख्यात रंगकर्मी बलवंत ठाकुर ने किया है।

समारोह में एकमात्र स्थानीय प्रस्तुति के रूप में 'एक और द्रोणाचार्य' का मंचन हुआ। डॉ. शंकर शेष द्वारा लिखित इस नाटक में द्रोणाचार्य से तुलना करते हुए एक शिक्षक के द्वंद्व को उद्घाटित किया है। वर्तमान शिक्षा प्रणाली की क्रूर सच्चाई दर्शाते इस नाटक का निर्देशन प्रो. सतीश मेहता ने किया है।

इस राष्ट्रीय नाट्य समारोह की अंतिम प्रस्तुति के रूप में रुद्रप्रसाद सेनगुप्ता के दो लघु-बांग्ला नाटकों का मंचन किया गया। 'नाना रांगेर दिन' जिसमें एक बुज़ुर्ग होते अभिनेता के अप्रासंगिक होते जाने की व्यथा है और 'पाता झोरे जाए' में वृद्ध दंपत्ति के एकांतवास की पीड़ा को बखूबी व्यक्त किया गया। दोनों रूपकों में रुद्रप्रसाद व स्वाति लेखा का अभिनय दर्शकों पर अमिट छाप छोड़ गया।

अंतरंग में 'तीन रंग'

रंगमंच के माध्यम से वैचारिक हस्तक्षेप करते हुए रंगआधार की नियमित नाट्य श्रृंखला 'तीन रंग' में पिछले दिनों अपने समय के तीन क्लासिक नाटकों की सौगात दर्शकों को मिली। सामाजिक सरोकारों की अभिव्यक्ति से जुड़ी इस कड़ी में एक ओर दिवंगत अग्रणी रंगकर्मी स्व. अलखनंदन के सुप्रसिद्ध नाटक 'चंदा बेड़नी' को देखने का मौका था तो दूसरी ओर लगातार होते मंचनों से बहुचर्चित हुए

'चंदा बेड़नी'

Print to PDF without this message by purchasing novaPDF (http://www.novapdf.com/)

के.जी. त्रिवेदी के नाटक 'बस, इतना सा ख़्वाब है' का मंचन था। वहीं रंग-जिजीविषा से भरे युवा रंगकर्मी चंद्रहास तिवारी का नया नाटक 'आय एम सुभाष' का रंग आस्वाद दर्शकों को मिला।

सर्वविदित है कि चंदा बेड़नी अलखनंदन के सृजनात्मक रंगकर्म का हस्ताक्षर रहा है। इसी नाटक ने उनके रंगकर्म को देशभर में पहचान दिलाई। उनके निधन के बाद भी इस नाटक की साँसें ज़िंदा हैं। निश्चय ही इसका श्रेय नाटक के प्रतिबद्ध कलाकारों को दिया जा सकता है। नाटक की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि कई कलाकारों के बदल जाने के बाद भी चंदा की भूमिका में आज भी रंजना उतनी ही सामर्थ्य के साथ अपनी भूमिका का निर्वाह करती दिखाई देती हैं। यह रंजना का रंगकर्म के प्रति, अपने गुरु के प्रति और अपनी यादगार भूमिका के प्रति जो दृढ़ संकल्प है, यह निश्चित ही युवा रंगकर्मियों के लिए प्रेरक है। नंद बुंदेले इस बात के लिए बधाई का पात्र भी है कि अलखजी के न रहने पर भी इस नाटक को पुनर्जीवित किया तथा उनकी स्मृतियों को अमरता दी।

भोपाल के व्यंग्यकार श्रीकांत आप्टे द्वारा लिखित नाटक ''बस इतना सा ख़्वाब है'' के पिछले दिनों हुए लगातार मंचनों से इस नाटक की लोकप्रियता बढ़ी और यह नाटक नये-नये इंप्रोवाइजेशंस से दर्शकों में अपनी पैठ बनाने में कामयाब रहा। निर्देशक के.जी. त्रिवेदी ने हास्य की भरपूर संभावनाएँ तलाशते हुए इस नाटक को इतनी मुखरता दी है कि वह हर मंचन में ताज़ा और चमकदार लगता है। मध्यवर्ग के रिटायर्ड आदमी की अधूरी रही छोटी-छोटी इच्छाओं को वह आज भी पूरा करने के ख़्वाब देखता है। यही छोटी-छोटी उम्मीदें और सपने उसे ज़िंदा रखे हुए हैं। यह नाटक हास्य व्यंग्य के माध्यम से ज़िंदगी के उहापोहों को बहुत मर्मस्पर्शी ढंग से व्यक्त करने में सफल रहा।

शहर के युवा लेखक दिनेश नायर द्वारा लिखित नाटक 'आय एम सुभाष' का मंचन दर्शकों में देशभक्ति का जज़्बा जगाने में कामयाब रहा। इस नाटक में सुभाष की भूमिका में चंद्रहास तिवारी की दमदार उपस्थिति प्रस्तुति का सशक्त पक्ष है। लेखक ने भी सुभाषचंद्र बोस के वृहद क्रांतिकारी जीवन को सीमित अवधि में दर्शाने का भरसक प्रयास किया है। इस प्रकार तीन विभिन्न दृष्टियों के नाटकों से सम्पन्न यह समारोह तीन विभिन्न रंग आस्वाद देने में सफल रहा।

'किससे क्या कुछ बात कहें'

आशु कवि के रूप में ख्यात बोलते कवि श्री प्रदीप 'नवीन' के दूसरे काव्य संग्रह 'किससे क्या कुछ बात कहें' का लोकार्पण मध्यभारत हिन्दी साहित्य समिति द्वारा शिवाजी भवन सभागार में हुआ। कार्यक्रम की अध्यक्षता करते हुए लोक प्रसिद्ध कवि सत्यनारायण सत्तन ने 'नवीन' की व्यंग्य रचनाओं की सराहना की और कहा कि इनमें न तो कहीं भी विसंगति है और न ही कहीं मर्यादाओं का उल्लंघन हुआ है। उन्होंने कहा कि कवि ने समसामयिक क्षणों को जीया है। डॉ. जवाहर चौधरी ने कहा कि आज जब कविताओं का प्रकाशन कठिन कार्य हो गया है ऐसे दुष्कर समय में व्यंग्य कविताओं का आना प्रशंसनीय है। उन्होंने कहा कि 'नवीन' की कविताओं में सामाजिक विद्रूपताओं,

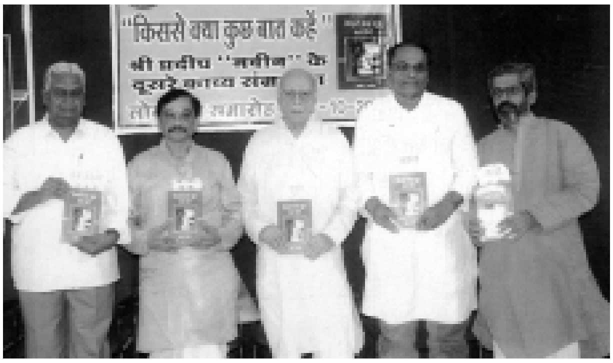

धर्म, राजनीति आदि विषयों पर सटीक प्रहार मिलते हैं। कार्यक्रम के मुख्य अतिथि डॉ. शिव चौरसिया ने हिन्दी में व्यंग्य की परंपरा को रेखांकित करते हुए कबीर, रहीम, तुलसी, भारतेंदु, निराला के उदाहरण दिए। इस अवसर पर प्रदीप नवीन ने अपने संकलन से शीर्षक रचना ''मजबूरी ने होंठ सी दिए, किससे क्या कुछ बात कहें, अपने ही कह रहे हैं हमसे, दिन को भी हम रात कहें.... सुनाकर सभागार को तालियों की गूंज से भर दिया।

कार्यक्रम का संचालन साहित्य मंत्री हरेराम वाजपेयी ने किया। इस अवसर पर प्रदेश के जाने-माने साहित्यकार उपस्थित थे।

छायाचित्रों में नृत्य

भारत भवन में रुपाभ प्रदर्शन श्रृंखला के अंतर्गत रंगदर्शनी दीर्घा में सुपरिचित छायाकार सुश्री भावना जायसवाल के छायाचित्रों की एकल प्रदर्शनी 'रिदम' आयोजित की गई। भावना ने देश-विदेश की विख्यात नृत्यांगनाओं की प्रस्तुतियों को अपने कैमरे में संजोकर उसे छायाचित्र का एक अनूठा और अद्‌भुत कलात्मक रूप देकर प्रस्तुत करने की कोशिश की है। भावना ने हेमामालिनी, सोनल मानसिंह, बी. सरोजा देवी, रुक्मणी विजय कुमार, पद्मनाभ, बिन्दु जुनेजा से लेकर लोक नृत्यांगना गुलाबो तक की नृत्य प्रस्तुतियों को अपने छायाचित्रों में उतारा है। सुश्री भावना को फोटोग्राफी विरासत में मिली है। उन्होंने छोटी सी उम्र में ही कैमरे से खेलना शुरू कर दिया था। जब भावना चौथी पाँचवी जमात तक पहुँची तो उन्होंने कैमरे को साध कर सुन्दर तस्वीरें खींचना शुरू कर दिया। उनकी यह यात्रा चल पड़ी और अनवरत् जारी है।

'भूमिका' के दो नये नाटक

कारंतजी ने जिन काबिल शिष्यों को रंगकर्म की समृद्ध विरासत सौंपी थी, उनमें गोपाल दुबे जैसे रंगकर्मियों ने संयम और पुरुषार्थ के साथ सतत् रंगकर्म की अलख जगाई हुई है। रंगमंच पर नवाचारों का

Print to PDF without this message by purchasing novaPDF (http://www.novapdf.com/)

गोपाल दुवे निर्देशित नाटक 'ओ हरामज़ादे'

आग्रह रखने वाले गोपाल दुबे ने नए नाटकों की खोज की और कहानी, उपन्यास तथा कविताओं की रंगमंचीय प्रस्तुति के सफल प्रयोग भी किए। विश्व-साहित्य में गहरी रुचि रखने वाले गोपालजी ने नाटकों के माध्यम से सामाजिक विमर्श को भी महत्वपूर्ण स्थान दिया है। अपने प्रयोगधर्मी रंग अनुष्ठानों की परंपरा में उनकी नाट्य संस्था 'भूमिका' ने दो दिवसीय नाट्य समारोह का आयोजन किया।

18 सितंबर को मंचित नाटक 'ओ हरामज़ादे', भीष्म साहनी की कहानी पर आधारित था। अपने देश से विस्थापन की व्यथा का दर्द झेल रहे एक अप्रवासी भारतीय की छटपटाहट यह है कि वह किसी भारतीय व्यक्ति से मिलना चाहता है। कहानीकार ने रोचक ढंग से इस दर्द को मानवीय करुणा का जामा पहनाया है।

दूसरे दिन गॉल्सवर्दी का नाटक 'फर्स्ट एंड द लास्ट' का मंचन किया गया। नाटक तीन चरित्रों के इर्द-गिर्द घूमता है- कीथ, लैरी और वांडा। लैरी और वांडा के प्रेम संबंधों में तब अचानक भूचाल आता है जब लैरी के हाथों वांडा के पूर्व पति की हत्या हो जाती है। लैरी अपने वकील भाई कीथ को इस हत्या की जानकारी देता है। मनुष्य की महत्वाकांक्षा किस तरह स्वार्थ में अंधी हो जाती है, इसका दर्शन नाटक में बखूबी मिलता है।

सतत् रंगऊर्जा से भरे अभिनेता चंद्रहास तिवारी और काकोली भट्टाचार्य के स्वाभाविक अभिनय ने अमिट छाप छोड़ी। अन्य भूमिकाओं को शालीन गुप्ता, लोकेंद्र प्रताप सिंह, भावना सिंह, योगेश उमाठे ने संजीदगी से जीया। आलोकन इन प्रस्तुतियों का आकर्षक पक्ष रहा, जिसे शहर के युवा रंगकर्मी तानाजीराव ने अपनी कल्पनाशीलता से भावप्रधान बना दिया। नाटकों के शिल्प का नवीन विधान दर्शकों को बाँध पाने में सफल रहा। गोपाल दुबे के सधे हुए निर्देशन की छाप रंगमंच की हर विधा पर साफ़ दिखाई दी।

'जलियाँवाला बाग' लोकार्पित

भारतीय जन नाट्य संघ 'इप्टा' का आठवाँ राज्य सम्मेलन इन्दौर में सम्पन्न हुआ। इस सम्मेलन में पहले दिन लेखिका रामदुलारी शर्मा के ऐतिहासिक नाटक 'जलियाँवाला बाग' का लोकार्पण किया गया। लोकार्पण इप्टा के राष्ट्रीय अध्यक्ष रणवीर सिंह (जयपुर), महासचिव जितेंद्र रघुवंशी (आगरा), प्रांतीय अध्यक्ष हिमांशु राय (जबलपुर), विजय हंगल (मुंबई), अशोक मिश्र (मुंबई), कुमार अंबुज (भोपाल) द्वारा किया गया। इस पुस्तक पर साहित्यकार एकांत श्रीवास्तव द्वारा लिखे गए फ्लैप का वाचन विनीत तिवारी ने किया।

गायन पर्व

भोपाल में भारत भवन कलाओं का ऐसा संगम स्थल है जहाँ कला की विभिन्न विधाओं से हम एक ही स्थान पर सुगमता से रू-ब-रू हो सकते हैं। साहित्य, चित्रकला, रंगमंच एवं संगीत। इन चारों विधाओं के लिये भारत भवन में चार केन्द्र वागर्थ, रूपाभ, रंगमंडल एवं अनहद। अनहद हैं। केन्द्र 29-30 जून तथा 1 जुलाई को 'गायन पर्व' लेकर प्रस्तुत हुआ। तीन दिवसीय इस संगीत समारोह में विभिन्न गायन विधाओं में पारंगत कलाकारों ने शिरकत की। समारोह का आग़ाज़ भुवनेश कोमकली के शास्त्रीय गायन से हुआ। श्री कोमकली विलक्षण गायक पं. कुमार गंधर्व के पौत्र हैं जिन्हें संगीत विरासत में मिला है। अपने पूर्वजों से मिली इस धरोहर को वे

अश्विनी भिड़े

Print to PDF without this message by purchasing novaPDF (http://www.novapdf.com/)

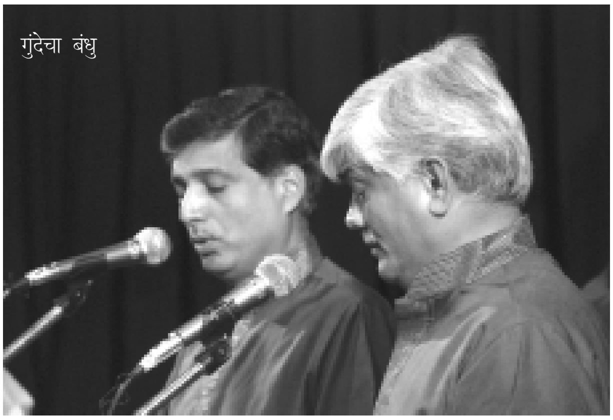

ससम्मान आगे बढ़ा रहे हैं। इसका उत्तम उदाहरण कोमकली के गायन में दिखाई दिया। कोमकली ने अपने गायन की शुरूआत राग यमन से की। विलंबित एकताल में बड़ा ख़्याल देओ दान मोहे/मांगत सुरभिक दास तिहारो तथा द्रुत तीन ताल में पीहरवा आओ तुम प्रस्तुत किया। कार्यक्रम के अगले सत्र की प्रस्तुति पं. संजीव अभ्यंकर का उपशास्त्रीय गायन रही। संजीव मूर्धन्य शास्त्रीय गायक पं. जसराज के शिष्य हैं।

भारतीय उपशास्त्रीय गायन प्राचीन भारत के लोक जीवन की झलक, चंचलता, सहजता, मधुरता तथा परंपराओं की अनुभूति कराता आया है तथा शास्त्रीयता के नियमों को यह थोड़ा ढीला भी छोड़ता है। अपनी आवाज़ में वैसा ही माधुर्य लिये कजरी, ठुमरी, टप्पा, गायिकी में कण्ठसिद्ध सुश्री राजश्री पाठक समारोह की दूसरी शाम दर्शकों से रू-ब-रू हुयीं। गायन की शुरुआत बारहमासी से हुयी। बारहमासी प्रेमिका की विरह वेदना को व्यक्त करता हुआ ऐसा गायन है जिसमें प्रेमिका अपने दुख की तुलना बारह मास के मौसम से करती है। 'मोहे तुम बिन परत नाहीं चैन/सैंया आजा सावन भए नैन' तथा 'नई झूलनी की छइयां बलम/दुपहरिया बितइला है प्रस्तुत की। अपने गायन का समापन उन्होंने 'गिरिजा देवी' जी के प्रसिद्ध 'हिण्डोला' से किया- 'देखो साँवरे के संग/गोरी झुलेली हिण्डोला।

शास्त्रीय गायन में ध्रुपद को एक नयी पहचान दिलाने वाले श्री गुन्देचा बंधुओं ने चौताल में राग गोरख कल्याण की प्रस्तुति दी, बंदिश छायावादी कवि सुमित्रानंदन पंत की कविता 'तप रे मधुर-मधुर बन, रही। अपने गायन की शुरुआत उन्होंने तराने से की। तीन दिवसीय समारोह की तीसरी शाम का प्रारंभ ग्वालियर घराने की सुश्री शाश्वती मण्डल पॉल के शास्त्रीय गायन से हुआ समारोह का समापन सुविख्यात शास्त्रीय गायिका शुभा मुद्‌गल के उपशास्त्रीय गायन से हुआ। सबसे पहले राग बिहाग में ठुमरी - मोहे टेर गयो रे मुरारी/मैं जाऊँ बारी/बेर भयी घर जाने दे मैका तथा तीन ताल में शेख राहत अली नगदद की कजरी तुम बिन कैसे कटे रतिया/कासे कहुँ मन की बतिया सुनायी। चाहे कृष्ण और राधा के प्रणय संबंध हों या कि प्रेमिका की विरह वेदना सभी को शुभा की गायिकी ने सजीव बना डाला और दर्शकों को सम्मोहित अवस्था में पहुँचा दिया। इस संपूर्ण समारोह में कला एवं साहित्य के विभिन्न व्यक्तियों ने हिस्सेदारी की किन्तु रंगकर्म से जुड़े लोगों की अनुपस्थिति खली।

-एकता गोस्वामी

काशीनाथ सिंह का रचना पाठ

जिस तरह कविता में बिम्ब होते हैं उसी तरह कथा में पात्र होते हैं और मेरी कोशिश होती है कि पात्र कथा में सुनाई ही नहीं दिखाई भी पड़े। पेन ही हमारा केमेरा और स्केच बुक है। साहित्य अकादमी से सम्मानित सुप्रसिद्ध कथाकार काशीनाथ सिंह ने हिन्दू कॉलेज, दिल्ली में अपने रचना पाठ के दौरान कहा कि मैं कोशिश करता हूँ कि जो लिखा जा चुका है उसकी पुनरावृत्ति न हो और लेखन में वे क्षण चुने जाएँ जिन्हें लिखने का साहस पहले न किया गया हो। उन्होंने हिन्दी साहित्य सभा द्वारा आयोजित इस कार्यक्रम में अपने चर्चित उपन्यास 'काशी का अस्सी' के अंश 'संतों घर में झगड़ा भारी' के कुछ प्रसंगों का पाठ किया। इससे पहले उन्होंने विभाग की हस्तलिखित पत्रिका 'हस्ताक्षर' के नए अंक का लोकार्पण करते हुए कहा कि जब पारंपरिक सौंदर्यबोध को यांत्रिकता चुनौती दे रही हो तब ऐसी सुरुचिपूर्ण पत्रिका का होना चौंकाने वाला किन्तु महत्वपूर्ण काम है। उन्होंने हिन्दी विभाग की भित्ति पत्रिका 'लहर' के नए अंक का विमोचन भी किया। हिन्दी साहित्य सभा के परामर्शदाता डॉ. पल्लव ने आभार व्यक्त किया।

ओजस्विनी अलंकरण

पुरुष के कंधे से कंधा मिलाकर जीवन के हर क्षेत्र में अपना सृजनात्मक योगदान देने वाली स्त्रियों ने साहस और कौशल से यह सिद्ध कर दिखाया है कि स्त्री वास्तव में शक्तिरूपा है। 'ओजस्विनी अलंकरण' कला, राजनीति, धर्म, विज्ञान, शिक्षा, समाजसेवा, चिकित्सा आदि क्षेत्रों की ऐसी ही स्वयंसिद्धा स्त्रियों को प्रदान किया जाता है। इस बार ओजस्विनी अलंकरण का सोलहवाँ साल था। रवींद्र भवन में आयोजित इस समारोह में भारतीय जनता पार्टी के राष्ट्रीय अध्यक्ष नितिन गडकरी और म.प्र. के मुख्यमंत्री शिवराज सिंह चौहान की गरिमामय उपस्थिति में विशिष्ट सेवा हेतु यह अलंकरण प्रदान किया गया। बाघ संरक्षण के लिए काम कर रही वाइल्ड लाइफ प्रोटेक्शन सोसाइटी ऑफ इंडिया का गठन करने वाली वाइल्ड लाइफ फोटोग्राफर बेलिंडा राइट को ओजस्विनी शिखर सेवा अलंकरण, डॉ. लक्ष्मी और न्यूटन कोडावेटी को पुनर्जन्म के ज़रिए आत्मिक उपचार करने हेतु ओजस्विनी अर्द्ध नारीश्वर अलंकरण, गंगा नदी की स्वच्छता के लिए और उत्तराखण्ड में बन रही विद्युत परियोजना के विरोध में कारावास झेल चुकी सुशीला भंडारी को ओजस्विनी विशिष्ट अलंकरण प्रदान किया गया। विगत साठ वर्षों से 'ओजस्विनी' विशिष्ट स्त्रियों को यह सम्मान देता आ रहा है। इस अवसर पर ओजस्विनी पत्रिका की प्रधान संपादक डॉ. सुधा मलैया के संपादकीय संकलन की पुस्तक 'भूमिका' का विमोचन भी हुआ।

राजभाषा नवरत्न पुरस्कार

नेशनल इंस्टीट्यूट फॉर टेक्नीकल टीचर्स ट्रेनिंग एंड रिसर्च (एन.आई.टी.टी.टी.आर.) को राजभाषा हिन्दी के क्षेत्र में उत्कृष्ट कार्य करने के लिए राजभाषा नवरत्न पुरस्कार से सम्मानित किया गया। यह पुरस्कार भारतीय भाषा एवं संस्कृति केन्द्र, नई दिल्ली की ओर से गुवाहाटी में आयोजित '21वें अखिल भारतीय राजभाषा प्रशिक्षण

Print to PDF without this message by purchasing novaPDF (http://www.novapdf.com/)

शिविर एवं सम्मेलन' में प्रदान किया गया। वरिष्ठ आलोचक और महात्मा गांधी हिन्दी विश्वविद्यालय के कुलाधिपति डॉ. नामवर सिंह ने यह पुरस्कार संस्थान के निदेशक प्रो. विजय अग्रवाल, प्रो. पी.के. पुरोहित व प्रो. डी.के. तिवारी को प्रदान किया गया। इसी क्रम में संस्थान के प्रशासनिक अधिकारी एस.एस. अस्थाना को हिन्दी में उत्कृष्ट कार्य करने के लिए 'राजभाषा रत्न' पुरस्कार दिया गया।

परंपरा की लोक धुनों में

राम का गुणगान

'बधाई आज मिथिला म स्वयंवर होण वालो छे...' मटियारे सौंधे अहसासों में रचे-बसे निमाड़ के इस लोकगीत को जब परंपरा की मीठी धुन में खंडवा से आई किशोरी और युवा गायिकाओं ने गुनगुनाया तो राम-जानकी विवाह का उल्लास सजीव हो उठा। भोपाल के शहीद भवन में आयोजित तुलसी-पर्व का यह नज़ारा लोक आस्था, लोक श्रद्धा और लोक चेतना का दिलकश ताना-बाना लिए था।

त्रेता युग के चरित नायक श्रीराम के अयोध्या में जन्म की बधाई से लेकर स्वयंवर, विवाह गीत, होली गीत, वनगमन, शबरी मिलन, अयोध्या आगमन और लोक कल्याण के उपदेश तक विभिन्न प्रसंगों को श्रीमती सुषमा साध, संगीता पाराशर, सौम्या मांगरोले, अपूर्वा अत्रे और पूर्वा मांगरोले के सामूहिक स्वरों में सुनना एक अलौकिक आंचलिक अनुभव था। निमाड़ की वरिष्ठ लोक गायिका श्रीमती आलोचना मांगरोले के निर्देशन और संयोजन में तैयार इस प्रस्तुति की ख़ासियत यह रही कि इसमें नवोदित पीढ़ी की गायिकाओं ने लोक विरासत के प्रति रुझान दिखाया है। राम के इन महिमा गीतों का चयन कला समीक्षक विनय उपाध्याय ने किया है। तबले पर मनोज जोशी और हारमोनियम पर भैय्यालाल बाकोरे ने संगत की। सभा में इस संगीत रूपक की शुरुआत राम जन्म के अवसर पर निमाड़ अंचल में गाए जाने वाले बधाई गीत से हुई- ''जन्म्या रे देखो राम बड़ा आनंद...''। उसके बाद स्वयंवर गीत ने माहौल को उमंग से भर दिया, बोल थे- ''बधाई आज मिथिला में स्वयंवर होण वालो छे...''। इसी बीच फागुन-पर्व होली में भी निमाड़ के लोक जीवन के राम शामिल हुए इस गीत के साथ- ''रामचन्द्र खेल रे होलई अवधपुर...''। प्रभु श्रीराम का सामाजिक समरसता का भाव तब जीवंत हो उठा जब 'शबरी-गीत' की सुन्दर बानगी प्रकट हुई- ''आओ मिठ्ठा-मिठ्ठा बोर खवाड़ शबरी...''। समापन किया निमाड़ में प्रचलित उपदेश गीत से जिसमें रामनाम के सुमिरन की गुहार की गई है- ''मनवा राम सुमिरी लेवो रे, सतसंगत न बठी न मूरख हरिगुण गाई लेवो रे....''।

इस अवसर पर विशेष रूप से उपस्थित कला अकादेमी के निदेशक गणेश बागदरे, फिल्म समीक्षक अजातशत्रु और संस्कृतिकर्मी वसंत निरगुणे ने प्रस्तुति की सराहना की।

कामायनी

काव्यात्मक प्रस्तुति

जयशंकर प्रसाद की अमर रचना 'कामायनी' के प्रकाशन के 75 वर्ष पूरे होने पर वाराणसी की रंगसंस्था 'रूपवाणी' ने 'कामायनी' की प्रस्तुति की, जिसमें अभिनय और नृत्य को संश्लिष्ट ढंग से गूंथा गया। मुख्यतः नृत्य आधारित इस प्रस्तुति में भरतनाट्यम, छाऊ और कथक शैलियों की ब्लेंडिंग करके इन पारंपरिक नृत्यरूपों के भीतर से नई देहभाषा खोजने का प्रयत्न है। इसकी पहली प्रस्तुति युवा कवि व्योमेश शुक्ल के निर्देशन में 17 जून को वाराणसी के चौकाघाट स्थित सांस्कृतिक संकुल परिसर के मुक्ताकाशीय रंगमंच पर हुई। इसे देखने के लिये बड़ी संख्या में दर्शक आए।

इस प्रस्तुति की विशेषता यह रही कि इसमें सिर्फ मानव की भूमिका को छोड़कर सभी भूमिकाएं करीब 14 से 18 वर्ष की लड़कियों ने बड़े संयम, धैर्य, कल्पनाशीलता और मनोयोग से की। मनु की भूमिका स्वाति, श्रद्धा की भूमिका प्रतिमा, लज्जा की और अन्य तीन भूमिकाएं क्रमशः प्रशस्ति और अवंतिका ने की। इड़ा की भूमिका में नंदिनी, राज्यकर्मी की भूमिका में मीनाक्षी तथा मानव की भूमिका में रोशन थे। इनमें से कुछ तो महज स्कूली छात्राएँ हैं और उन्हें नृत्य का विशेष प्रशिक्षण भी नहीं मिला है। लेकिन करीब दो महीने की तैयारी में ही व्योमेश शुक्ल ने इन्हें इस भव्य प्रस्तुति के लिए तैयार किया और यह अहसास नहीं होने दिया कि हिन्दी के इस

Print to PDF without this message by purchasing novaPDF (http://www.novapdf.com/)

युवा कवि की 'कामायनी' की नृत्य-अभिनय प्रस्तुति में चुस्त गठाव नहीं है, 'नौसिखियापन है। न केवल वह कामायनी की इस प्रस्तुति को नए संदर्भ देने की कोशिश करते हैं बल्कि नृत्य और संगीत के प्रति अपने गहरे झुकाव को भी अभिव्यक्त करते हैं, जिसका उन्होंने बाकायदा प्रशिक्षण प्राप्त किया है।' पिछले साल वह मोहन राकेश की कृति 'आषाढ़ का एक दिन' का समसामयिक अभिप्रायों के साथ मंचन करके इस क्षेत्र में अपना हाथ मांज चुके थे। यही कारण है कि उनकी यह प्रस्तुति भोपाल में भी हाल ही में सराही गई है। इसे शीघ्र ही इलाहाबाद और गया में भी प्रस्तुत किया जाना है।

इस प्रस्तुति के इतने सुगठित-संगठित होने का एक कारण यह भी था कि संगीत निदेशक अरविंद दास गुप्त के साथ व्योमेश शुक्ल ने इसके संगीत पर लगभग एक वर्ष तक काम किया। इसकी सांगीतिक प्रस्तुति के भव्य और नव्य होने का कारण शायद उनका धैर्य और उनकी मेहनत है।

वैसे व्योमेश कहते हैं कि 'कामायनी' की अभिनय-सांगीतिक प्रस्तुति का ख्याल उन्हें आज से नौ वर्ष पूर्व उस समय आया था, जब 2003 में 'कथा-संगमन' का समापन सत्र बनारस में प्रसाद जी के आवास पर आयोजित किया गया था और बाहर से आए तमाम कथाकार-साहित्यकार, लहुराबीर से पैदल चलकर प्रसाद जी के घर तक आए थे। वे कहते हैं कि उसी दिन से उन्होंने अपने को इस चुनौती के लिए तैयार किया और एक लंबी तैयारी के बाद उन्होंने नृत्य के फॉर्म का चयन किया। वह कहते हैं, ''प्रसाद का विराट हमेशा मुझे चुनौती देता रहा है। अतः उसका सामना करने की, उससे भिड़ने की, उससे दो-दो हाथ करने की इच्छा मेरी लगातार दृढ़ होती गई। बनारस में प्रसाद के होने का जश्न मनाने को मेरा मन किया और यह जश्न 'कामायनी' की प्रस्तुति के बिना अधूरा रहता।'' बहरहाल इस प्रस्तुति की परिकल्पना और सिनिक डिजाइन में धीरेंद्र मोहन के योगदान की चर्चा करना भी आवश्यक है। बगैर उनके यह प्रस्तुति अपना संपूर्ण प्रभाव नहीं छोड़ पाती। इसका नेपथ्य नियमन जे.पी. शर्मा ने किया।

पूरब की ज़ुबान बोलता रहा

पश्चिम का साज़

'सरहदों के दायरे भले ही मुल्कों के धरती-आसमान बाँट देते हों लेकिन संगीत के सात सुरों के महीन और महक भरे रिश्तों को यह फाँक रास नहीं आती।' भोपाल के शहीद भवन की चार दिवारी में जाने-माने फ़नकार अब्दुलसलाम नौशाद ने जब क्लेरियोनेट जैसे विदेशी साज़ पर हिन्दुस्तानी राग-रागिनियों के सुर छेड़े तो पूरब और पश्चिम के इस सुरीले मिलन का रोमांच देखते ही बना।

आई.सी.सी.आर. की भोपाल क्षेत्रीय शाखा द्वारा होराइजन सीरीज के तहत सजी 'नाद स्वर' की इस महफ़िल में मुम्बई से आये होनहार तबला वादक मनीष अत्रे की सधी हुई संगत ने लय-ताल के अनूठे आयाम जोड़े। सभा का संचालन करते हुए वरिष्ठ कला समीक्षक विनय उपाध्याय ने क्लेरियोनेट की खूबियों पर रौशनी डालते हुए

भारत में उसकी विकास परंपरा को रेखांकित किया। मुख्य अतिथि प्रसिद्ध समाजसेवी और रोटरी इंटरनेशनल के गवर्नर आलोक बिल्लौरे ने दीप प्रज्जवलित कर सभा का शुभारम्भ किया तथा कलाकारों का शॉल-श्रीफल भेंट कर सम्मान किया।

इस मौके पर आई.सी.सी.आर. के रीजनल डायरेक्टर नित्यानंद श्रीवास्तव सहित अनेक कलाधर्मी-संगीतकार उपस्थित थे। अमूमन हिन्दुस्तानी संगीत सभाओं में नदारद रहने वाले क्लेरियोनेट की सुमधुर स्वर लहरियों को सुनना भोपाल के श्रोताओं के लिए एक दिलचस्प अहसास था। मालवा (इंदौर) के खानदानी संगीतकारों की विरासत को अपने साज़ में थामे श्री नौशाद ने जब ढलती शाम के मीठे-मादक राग बागेश्री में आलाप लेना शुरू किया तो माहौल में उठी गमक रसिकों के ज़ेहन में दस्तक देने लगी। राग के विस्तार के साथ तीनों सप्तकों के आरोह-अवरोह, शुद्ध स्वरों की उपज और मीड़ की बहुत सुंदर नक्काशी के साथ नौशाद ने गायकी अंग को साधा। बारह मात्रा की विलंबित बंदिश पर मनीष अत्रे ने तबले की बढ़त ली तथा तीन ताल सोलह मात्रा की अति द्रुत रचना की शानदार तिहाई पर लाकर क्लेरियोनेट वादन के पहले चरण को चरम पर पहुँचाया। लम्बे रियाज से अपने फ़न को मांजने वाले अब्दुल नौशाद ने सभा के दूसरे पायदान पर मिश्र पीलू और भैरवी में एक धुन पेश की। क्लेरियोनेट की मिठास और धुन की रफ़्तार को मनीष का तबला बेहतर अंजाम तक ले गया।

कहाँ से आया भारत में क्लेरियोनेट...

पश्चिमी मुल्क ज़ापान के पेरिस महानगर में क्लेरियोनेट को सेना के बैन्ड में शामिल किया गया। वहीं इस साज़ की परवरिश हुई। बाद के बरसों में अमेरिका के कलाकारों ने इस वाद्य की बनावट में परिवर्तन किया। फूंक से बजाये जाने वाले इस शहनाईनुमा साज़ का भारत आगमन आज़ादी के बाद हुआ। यहाँ भी पहले इसे बैन्ड में ही शामिल किया गया। हिन्दुस्तानी शास्त्रीय संगीत के लिए इस वाद्य का पहला प्रयोग गुजरात के उस्ताद आमद मियां दरबार ने किया। जबकि मध्यप्रदेश में क्लेरियोनेट को इंदौर के होलकर राजवंश के कलाकार उस्ताद नत्थेखां ने आमफ़हम बनाया। यह जानकारी देते हुए उद्घोषक विनय उपाध्याय ने बताया कि नौशाद इसी सुरम्य साज़ परंपरा के उत्तराधिकारी हैं। इस विदेशी साज़ पर धुन बजाना तो आसान है लेकिन हिन्दुस्तानी राग का विस्तार बहुत ही जटिल है।

Print to PDF without this message by purchasing novaPDF (http://www.novapdf.com/)

पुणे में छा गई कानपुर की 'बकरी'

अखिल भारतीय सांस्कृतिक संघ द्वारा पुणे में नेशनल हार्मोनी 2012 प्रतिस्पर्धा में शामिल देश भर की लगभग 300 से ज्यादा संस्थाओं के बीच अनुकृति रंगमण्डल कानपुर को मंचित नाटक के लिए द्वितीय पुरस्कार प्रदान किया गया। प्रसिद्ध नाटककार सर्वेश्वर दयाल सक्सेना के सत्तर के दशक में लिखे 'बकरी' नाटक में उत्तर प्रदेश की लोक नाट्य शैली नौटंकी का प्रयोग किया गया है। नाटक जनता के उत्पीड़न व शोषण को प्रभावशाली ढंग से उजागर कर कुशासन व अन्याय के खिलाफ विद्रोह के लिए प्रेरित भी करता है।

गिरजा के सपने में जूझने का जज़्बा

'दूसरों का पेट भरने वाला किसान आखिर कब तक खुद भूखे पेट सोता रहेगा.... किसानों के बच्चों को कब मिलेगा देश के अन्य नागरिकों की तरह पढ़ने व समाज की मुख्यधारा में आगे बढ़ने का मौका, 'आख़िरकार कब थमेगी कर्जे के फंदे से लटक कर किसानों की ख़ुदकुशी की शर्मसार करने वाली दुर्भाग्यपूर्ण घटनाएँ' ऐसे ही कुछ गंभीर सवाल छोड़ जाती है नाट्य प्रस्तुति गिरिजा के सपने। अनुकृति (रंगमंडल) कानपुर द्वारा राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय, संस्कृति मंत्रालय भारत सरकार एवं संगीत नाटक अकादमी, नई दिल्ली के सहयोग से निर्देशक अलोपी वर्मा के संचालन में आयोजित प्रस्तुति परक रंगमंच कार्यशाला में तैयार नाट्य प्रस्तुति गिरिजा के सपने का मंचन पिछले दिनों 12 मई 2012 को लाजपत भवन प्रेक्षागृह में हुआ।

कन्नड़ में लिखे बी. सुरेश के इस नाटक का हिन्दी रूपांतरण शैलजा ने किया है। पूर्व में इप्टा मुंबई द्वारा एम एस सथ्यू के निर्देशन में कई बार मंचित 'गिरिजा' को कानपुर के दर्शकों ने भी बेहद पसंद किया। गाँव की इकलौती 10वीं फेल शिक्षित गिरिजा (नित्या सक्सेना) फिल्मों की चकाचौंध से प्रभावित है। वो सपने तो फिल्मी हीरो के देखती है मगर उसकी शादी होती है एक सीधे सादे ग्रामीण युवा राजू (दीपक राज राही) से। सपनों और सच्चाई के बीच टकराव होता है, गिरिजा और राजू अपने बच्चों को पढ़ाने, बेहतर जीवन देने और घर गृहस्थी की गाड़ी पटरी पर लाने के लिए अपनी खेती गिरवी रख कर्ज़ लेते हैं। बहुराष्ट्रीय कंपनियों (निजी बैंकों) के छलावे में आकर वो गरुड़ (अवनीश सिंह) और जटायु (जब्बार अकरम) से कर्ज़ लेते हैं और मकड़जाल में फँस जाते हैं। विदेशी बीज व खाद के फेर में उनकी खेती चौपट हो जाती है और अंततः कर्ज़ के बोझ से परेशान राजू फँसी लगाकर जान दे देता है। सरकार खुदकुशी करने वाले किसानों के परिजनों को मुआवज़ा देने की घोषणा करती है मगर पहले सत्ता के दलाल छुटभैया नेता प्यारे लाल (अनिल निगम), दुलारे लाल (टी.एस. गोरखपुरी) व सरकारी बाबू (सुरेश श्रीवास्तव) गिरिजा को लूटते हैं और फिर बची खुची कसर मंत्री (डॉ. रामशंकर) उसकी आबरू लूट कर पूरी कर डालता है। मगर इन तमाम मुश्किलों के बावजूद गिरिजा हिम्मत नहीं हारती है और नये सिरे से संघर्ष के लिए तैयार नज़र आती है। संगीतमय इस नाट्य प्रस्तुति में बहुराष्ट्रीय कंपनियों द्वारा पारंपरिक भारतीय बाजार पर अधिपत्य जमाने की कोशिशों और किसानों की व्यथा को प्रभावशाली ढंग से रेखांकित किया गया है।

Print to PDF without this message by purchasing novaPDF (http://www.novapdf.com/)

'एक और द्रोणाचार्य'

सत्य एवं मर्यादा का पालन करते हुए कर्तव्य की राह पर चलना इस युग में ही नहीं पुरातन काल में भी बेहद मुश्किल था। डॉ. शंकर शेष का प्रसिद्ध नाटक 'एक और द्रोणाचार्य' इसी सामाजिक विडम्बना का आईना है। पिछले दिनों अनुकृति रंगमंडल कानपुर एवं चेम्बर ऑफ यू.पी. के संयुक्त तत्वावधान में मंचित इस नाटक में एक आदर्शवादी शिक्षक प्रो. अरविन्द (एन.के. नेब) ईमानदारी के रास्ते पर चलने की पूरी कोशिश करते हैं मगर परिस्थितियों से हार कर उन्हें समझौता करना पड़ता है। नकल में पकड़े गये कॉलेज प्रबन्ध समिति के अध्यक्ष (विकास गुप्ता) के बेटे राजकुमार को न चाहते हुये भी छोड़ना और प्रधानाचार्य बन जाना, गबन में फँसने के डर से राजकुमार द्वारा अनुराधा (रुम्पी घोष) के साथ की गयी बलात्कार की कोशिश से आंख मूंद लेना प्रो. अरविन्द की मजबूरी थी। इसी कथा के समानान्तर महाभारत के द्रोणाचार्य की कथा भी चलती है। अपनी कृपि (पूर्णिमा) के व्यंग्य बाणों तथा अपनी दरिद्रता से आहत द्रोणाचार्य (सुरेश श्रीवास्तव) राजतंत्र की दासता स्वीकार कर लेते हैं। यह दासता उन्हें अर्जुन (अभिषेक वाजपेयी) की ख़ातिर एकलव्य (अजय चौहान) का अंगूठा कटवाने को मजबूर करती है। पश्चाताप की अग्नि में जलते हुये असत्य के पक्ष में खड़े होना द्रोणाचार्य की नियति है और प्रो. अरविन्द की भी। श्रीमती जॉली घोष (लीला), मनोहर सुखेजा (शम्भू भाई), राजीव तिवारी (अश्वत्थामा) दीपक राजराही (चन्दू), दीपाक्षी (बाल अश्वत्थामा), शेखर नानकशाही (युधिष्ठिर), अवनीश सिंह (धृष्टद्युम्न), उमाकान्त मौर्य (सैनिक), सर्वेश श्रीवास्तव (सैनिक), आर.के. वर्मा (जज) एवं राजकिशोर श्रीवास्तव (विमलेन्दु) का अभिनय भी सराहनीय रहा।

नाटक का निर्देशन सुरेश श्रीवास्तव ने किया वहीं प्रकाश परिकल्पना डॉ. ओमेन्द्र कुमार की थी।

पंचकन्याओं की कश्मकश

कानपुर कल्चरल एसोसिएशन के सहयोग से नाट्यभारती दिल्ली ने पिछले दिनों रागेंद्र स्वरूप सेंटर फॉर परफॉर्मिंग आर्ट्स प्रेक्षागृह कानपुर में नाटक पंचकन्या का मंचन किया। नाटक में विभिन्न आयु की पांच महिलाओं कमला, सपना, गिरिजा, कामिया और एन्जलीना के अन्तर्मन की कश्मकश प्रस्तुत की गयी।

कमला (राज अरोड़ा) देश के बँटवारे के दौरान की उस समय की महिला हैं जब परिवार व प्यार परंपराओं में पलता था। कमला को रामेश्वर (मंगतराम) से प्रेम हो जाता है वो उसके इंतज़ार में पूरी उम्र गुज़ार देती है और किसी और से विवाह नहीं करती है। सपना (मधुमिता विद्यार्थी) समाज की उन महिलाओं में से है जो घर बसाने की कोशिश में पहले प्यार और फिर शादी कर बैठती है। सपना अपने 12 साल के विवाहित जीवन में ख़ुद को ढूंढने की कोशिश करती है क्योंकि पति नरेश (अनुराग अरोड़ा) के पास सपना के लिए समय नहीं है। और एक दिन सपना अपने पति का घर छोड़ अपनी मौसी कमला के घर आ जाती है। कमला के घर पर सपना की मुलाकात होती है गिरिजा से। मध्यम वर्ग से तकरीबन 34 साल की संभ्रांत गिरिजा (निकिता मिश्रा) पढ़ने लिखने वाली क्रिएटिव महिला है। जब वो 20 साल की थी तब मां-बाप एक एनआरआई लड़के रोमी (राकेश) से रिश्ते की बात चलाते हैं मगर पहली ही मुलाकात में गिरिजा रोमी को रिजेक्ट कर देती है। प्यार के बारे में उसने कभी सोचा ही नहीं, जबकि विनय (राहुल चौहान) उसका सबसे अच्छा दोस्त उसके आसपास ही था। एक मशहूर लेखिका बन जाने के बाद सोशल वेबसाइट के जरिये शिव (अनुराग) से दोस्ती और फिर प्यार होता है मगर वो छलावा साबित होता है। आख़िर में गिरिजा अपने दोस्त विनय के साथ जीवन गुज़ारने का फैसला लेती है।

(कामिया ठाकुर) एक सफल मॉडल है उसका दोस्त गौरव (अजय ठाकुर) उसके ही फ्लैट में साथ रहता है। कामिया और गौरव के लिए शायद शारीरिक संबंध ही प्यार था, उन्होंने शादी की ज़रूरत ही नहीं समझी और लिव इन संबंध स्थापित किये। कामिया की आँख तब खुलती है जब उसे 55 साल पहले अपने प्रेमी रामेश्वर को लिखा कमला का ख़त मिलता है, इस ख़त को पढ़ने के बाद कामिया को अहसास होता है कि प्यार क्या होता है। वो गौरव को अपने जीवन से चले जाने को कहती है। पांचवी एन्जलीना (अबंतिका दास) है लोअर मिडल क्लास की महिला, घर का गुज़ारा मुश्किल से...माँ के इलाज के

Print to PDF without this message by purchasing novaPDF (http://www.novapdf.com/)

भूमिका), वरिष्ठ रंगकर्मी मोहन उप्रेती के आलेख, कैथरिन हेनसन (इंदरसभा परिघटना/वृहद भारत में लोक नाट्य व्याप्ति (1856-1953)) आदि आलेखों और इंदरसभा के मंचन के कुछ दुर्लभ फोटोग्राफ्स नटरंग के इस अंक को निश्चित रूप से सहेज कर रखने योग्य बनाते हैं। नटरंग के 50 से 90 तक अंकों में प्रकाशित सामग्री नाट्य प्रेमियों के लिए विविध विषयक संदर्भों एवं शोध में भी बेहद उपयोगी व मददगार साबित होगी।

लिए पैसे नहीं हैं...पिता है नहीं...दो छोटी बहनों की ज़िम्मेदारी, उसकी मजबूरियों का फायदा उठाता है एन्जलीना के आफिस का बॉस प्रेम (रवि शर्मा)। प्रेम एन्जलीना के साथ शारीरिक संबंध स्थापित करता है और एक दिन एन्जलीना प्रेम का खून कर देती है।

महेश बादल व राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय के स्नातक रवि शर्मा द्वारा लिखे इस नाटक पंचकन्या में हालांकि फ्लैश बैक की घटनाएँ और वर्तमान दोनों साथ-साथ दृश्यों के रूप में सामने आते हैं मगर स्टोरी लाइन बहुत साफ होने से कहीं भ्रम या फिर भटकाव की स्थिति दर्शकों के सामने नहीं रही। मोहन यादव (युवा रामेश्वर) सुधांशु शर्मा (कमला के पिता) व सुपर्णा मुखर्जी (कमला की माँ) का अभिनय भी बेहतरीन था। रवि शर्मा का निर्देशन एवं लाइट/सेट डिजाइनिंग दृश्यों के अनुकूल तथा एकदम चुस्त दुरुस्त थी। वहीं काजल घोष का संगीत नाटक को गति प्रदान करता है हालांकि कई दृश्यों की शुरुआत पार्श्व संगीत के साथ होने के बाद अचानक संगीत बंद होना अखरने वाली बात थी। कुल मिलाकर पंचकन्या ने दर्शकों को शुरु से अंत तक बांधे रखा।

इन्द्रसभा के रंग

श्री नेमिचन्द्र जैन जी ने वर्षों पहले 'नटरंग' के रूप में जो पौधा रोपा था आज वो पत्रिका निश्चित रूप से विशाल वट वृक्ष बन चुका है। नेमि जी के बाद रश्मि वाजपेयी व अशोक वाजपेयी ने नटरंग की सामग्री, कलेवर को न सिर्फ सहेज कर रखा है बल्कि उसमें समय के साथ सार्थक परिमार्जन भी किये। पत्रिका का नवीनतम अंक 91 जनवरी-मार्च 2012 उन्नीसवीं सदी में सैयद आग़ा हसन 'अमानत' द्वारा लिखे गये नाटक इन्द्रसभा पर केन्द्रित है। इस अनूठे क्लासिक नाटक के मूल आलेख के साथ ही महेश आनन्द (इंदरसभा की

'आला अफ़सर' ने मचायी हलचल

विनोद रस्तोगी स्मृति संस्थान इलाहाबाद ने पिछले दिनों संस्कृति मंत्रालय के सहयोग से इलाहाबाद एवं दिल्ली में साहित्य कला परिषद् द्वारा आयोजित लोक नाट्य समारोह में चर्चित नाटक 'आला अफ़सर' का मंचन किया। 1977 में लिखा गया मुद्राराक्षस लिखित यह नाटक बड़ी ही बेबाकी से भ्रष्टाचार के ताने-बाने की पोल खोलता है। उत्तरप्रदेश की लोक नाट्य शैली नौटंकी पर आधारित इस नाटक के अब तक सैकड़ों मंचन अलग अलग शहरों में हो चुके हैं।

नाटक में दिखाया गया है कि चितपुर कस्बे में चेयरमैन, हाकिम से लेकर हैडमास्टर, दरोगा तक सभी बुरी तरह भ्रष्टाचार में लिप्त हैं। खबर आती है कि इन सबके ख़िलाफ़ खुफिया जाँच के लिए एक आला अफ़सर भेजा गया है। एक फोकटिया नौजवान देवदत्त (अजय मुखर्जी) चितपुर पहुँचता है तो कस्बे के भ्रष्टाचारी उसे आला अफसर समझ बैठते हैं। उसकी खूब आवभगत होती है, देवदत्त भी इनकी गलतफ़हमी का फ़ायदा उठाकर उनसे धन वसूलता है। कस्बे के चेयरमैन (अभिलाष नारायण) देवदत्त को अपने घर में ले जाते हैं जहाँ वह चेयरमैन की बीबी और बेटी से इश्क लड़ाता है। आख़िर में अच्छा खासा माल बटोर कर यह फर्जी अफ़सर चंपत हो जाता है। बाद में कस्बे के भ्रष्टाचारियों को पता चलता है कि आला अफ़सर तो कल पहुँचने वाला है। विभिन्न भूमिकाओं में पुनर्वसु (सूत्रधार), अमित गुप्ता (हाकिम), आदित्य अग्निहोत्री (हेडमास्टर), अभिषेक दुबे, (पोस्टमास्टर), हिमांशु कुशवाहा (इंस्पेक्टर), शैलेन्द्र सरोज (चोखे), आशुतोष बनर्जी (अनोखे), आमिर मलिक (खादिम), प्रतिमा श्रीवास्तव (श्रीमती), प्रियंवदा सिंह (चंचल) व कीर्ति शर्मा (धोबन) समेत अन्य कलाकारों का अभिनय अच्छा एवं आतमजीत सिंह का निर्देशन कसा हुआ था। उदय चन्द परदेसी के संगीत में नौटंकी की धमक आकर्षित करती व नाटक को गति प्रदान करती है।

सभी रपटें कानपुर से : डॉ. ओमेन्द्र कुमार

Print to PDF without this message by purchasing novaPDF (http://www.novapdf.com/)

भारत भवन में मध्यप्रदेश साहित्य अकादमी की ओर से सम्मान ग्रहण करते हुए व्यंग्यकार कैलाश मंडलेकर

व्यंग्यकार कैलाश मंडलेकर पुरस्कृत

म.प्र. साहित्य अकादमी द्वारा सुप्रसिद्ध व्यंग्यकार कैलाश मंडलेकर (खंडवा) को व्यंग्य लेखन के लिए राज्य स्तरीय राजेन्द्र अनुरागी पुरस्कार प्रदान किया गया। यह पुरस्कार मंडलेकर की व्यंग्य कृति ''एक अधूरी प्रेम कहानी का दुःखांत'' के लिए भारत भवन (भोपाल) में आयोजित एक गरिमामय समारोह में प्रदान किया गया। उल्लेखनीय है कि पुस्तक भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, नई दिल्ली से प्रकाशित हुई है। व्यंग्य लेखन के क्षेत्र में कैलाश मंडलेकर मौलिक भाषाशैली और विसंगतियों पर प्रहार के लिए अपनी अलग पहचान रखते हैं। समारोह में मध्यप्रदेश के मंत्री श्री मरावी, प्रेमचंद सृजन पीठ उज्जैन के अध्यक्ष जगदीश तोमर, संस्कृति-शिक्षा चिंतक श्रीधर पराड़कर, साहित्य अकादमी के निदेशक टी.एन. शुक्ला सहित देश के प्रमुख रचना धर्मी उपस्थित थे।

विष्णु नागर का रचना पाठ

ललित कलाओं के लिए समर्पित 'स्पंदन' की ओर से भोपाल के स्वराज भवन में कवि-कथाकार तथा संपादक विष्णु नागर का रचना पाठ आयोजित किया गया। श्री नागर ने ''मरा हुआ आदमी इतना अच्छा क्यों लगता है, दृष्टि-दोष, सरवटे बस स्टेम्ड, प्रेम, आशावादी परम आशावादी, याद, वादा, पड़ौसी, माँऐं, पेड़ चाहें, गनीमत है जूते तो होते हैं, मेरी हैसियत सहित लगभग पैंतीस कविताओं का पाठ किया। संयोजक उर्मिला शिरीष ने विष्णु नागर का विस्तार से परिचय किया। श्री नागर की कविता में समय से गहरी मुठभेड़ है। इसमें बाज़ारवाद, शेयर मार्केट, कार्पोरेट जगत की गहरी पड़ताल की गयी है। करुणा से भीगी इन कविताओं में आवेग, क्रोध, घृणा, जुगुप्सा और असहायता के भाव उजागर होते हैं।

ताना-बाना लोकार्पित

मध्यभारत हिन्दी साहित्य समिति इंदौर द्वारा आयोजित कार्यक्रम में वरिष्ठ साहित्यकार एवं मध्यभारत हिन्दी साहित्य समिति के साहित्य मंत्री हरेराम वाजपेयी के दूसरे काव्य-संग्रह 'ताना-बाना' का लोकार्पण कवि एवं म.प्र. खादी ग्रामोद्योग बोर्ड के अध्यक्ष श्री सत्यनारायण 'सत्तन' की अध्यक्षता में सम्पन्न हुआ। सत्तन ने कहा कि कवि की रचनाएँ ही उसकी पहचान बनती हैं। उसे किसी बड़े व्यक्ति से कवि होने का प्रमाण पत्र लेने की आवश्यकता नहीं होती। मासिक पत्रिका 'वीणा' के सम्पादक डॉ. विनायक पाण्डेय ने कहा कि ताना-बाना की रचनाएँ समसामयिक हैं, जिसमें समाज की पीड़ा का यथार्थ वर्णन है। पाण्डेय ने कहा कि 'माँ', 'राष्ट्रभाषा' और 'क्यों लेखनी नमित है' रचनाएँ छाप छोड़ती हैं। दिल्ली से आए भारत प्रतिभूति मुद्रण एवं मुद्रा निर्माण निगम लि. (भारत सरकार) के पूर्व प्रबंधक, साहित्यकार डॉ. आलोक रस्तोगी ने कहा कि - 'ताना-बाना' की रचनाएँ पढ़ने से संवेदनाओं की कल्पनाओं से नहीं, हकीकत से पाठक रूबरू होता है।

'बाल वैभव' विमोचित

हिन्दी लेखिका संघ ने भोपाल के मानस भवन में बाल गोष्ठी का आयोजन किया। इस अवसर पर डॉ. वर्षा चौबे की किताब 'बाल-वैभव' का विमोचन किया गया। कार्यक्रम के मुख्य अतिथि साहित्यकार ओम उपाध्याय थे और कार्यक्रम की अध्यक्षता महेश सक्सेना ने की।

पुस्तक की समीक्षा करते हुए प्रीति खरे एवं श्यामा गुप्ता ने कहा कि यह किताब बच्चों के लिए बहुत रोचक है। कार्यक्रम का संचालन अर्चना सिंह ने किया।

Print to PDF without this message by purchasing novaPDF (http://www.novapdf.com/)

भाषायी संकट पर विमर्श

हिन्दी भवन, भोपाल भारतीय भाषाओं के बीच सृजनात्मक सकारात्मक एकता, आदान-प्रदान तथा सार्थक संवाद की परिणाममूलक कार्ययोजना का मंच बना। राष्ट्रभाषा प्रचार समिति वर्धा के अमृतपर्व ने इस आयोजन का सुअवसर जुटाया।

अमृतपर्व में विमर्श के लिए दो विषय रखे गए- 'हिन्दी संस्थाओं के समक्ष चुनौतियाँ और नई भूमिका' और दूसरा, 'हिन्दी और भारतीय भाषाओं के बीच सार्थक संवाद की आवश्यकता।' संस्थागत विमर्श में वरिष्ठ हिन्दी सेवी सर्वश्री डॉ. रत्नाकर पाण्डेय सहित अनेक आमंत्रित वक्ताओं ने हिस्सा लिया। अमृतपर्व का शुभारंभ म.प्र. के राज्यपाल रामनरेश यादव ने किया। राज्यपाल ने आह्वान किया कि भोपाल से भाषायी समरसता और प्रगति की एक ऐसी लहर प्रसंग होनी चाहिए।

खूब याद आए 'दादा'

निमाड़ के लोक संस्कृति पुरुष पं. रामनारायणजी उपाध्याय (पद्मश्रात्वं साहित्य वाचस्पति) के 94वें जन्मदिन 20 मई 2012 को मध्य भारत हिन्दी साहित्य समिति इन्दौर एवं निमाड़ लोक संस्कृति न्यास, खण्डवा के संयुक्त तत्वावधान में मनाया गया। इस संगम को प्रयाग-प्रसंग का नाम दिया गया।

खण्डवा, खरगोन, सनावद, बड़वाह, इन्दौर के साहित्यकारों से खचाखच भरे नार्मदीय ब्राह्मण धर्मशाला के हॉल में कैलेण्डर का विमोचन करते हुए कैलेण्डर की पृष्ठभूमि पर श्री मध्य भारत साहित्य समिति के साहित्य मंत्री हरेराम वाजपेयी ने प्रकाश डाला, दादा एवं दादा की जन्म स्थली कालमुखी को याद किया।

बड़वाह से पधारे निमाड़ साहित्यिक एवं सांस्कृतिक संस्था के अध्यक्ष जीतेन्द्र सुराणा ने मंच से ही शिक्षा मंत्री अर्चना चिटनिस से मोबाईल पर चर्चा कर अवगत कराया कि मंत्री जी ने कालमुखी की जिस पाठशाला में दादा पढ़े थे उसका नाम पं. पद्मश्री रामनारायणजी उपाध्याय के नाम पर करने की घोषणा का संदेश दिया है।

खण्डवा नगर के पूर्व महापौर वीरसिंह हिण्डोन ने दादा के अनेक संस्मरण सुनाए। गेंदालालजी जोशी ने अपनी कविता 'खण्डवा दादा न को गाँव' का वाचन किया। प्रदीप नवीन ने दादा की पुस्तकों के नामों को कविता में बाँध कर कविता पाठ किया। पुष्पा पटेल खरगोन ने भी अपने संस्मरण सुनाए। प्रतापराव कदम ने दादा को शहर की पहचान बताया। सफ़दर रज़ा खण्डवी ने कहा कि दादा ने हमें हिन्दी में साहित्य रचना सिखाया और हमारी प्रशंसा कर आगे बढ़ाया। कैलाश मंडलेकर, गोविंन्द गुंजन, कैलाश पालीवाल, नीरज दीक्षित, अरविन्द ओझा (इन्दौर) प्रभु त्रिवेदीजी (इन्दौर) देवेन्द्र जैन, शरद जैन आदि विशेष रूप से उपस्थित थे।

बलराम को
गणेश शंकर विद्यार्थी पुरस्कार

राष्ट्रपति भवन, दिल्ली के अशोक हॉल में केंद्रीय हिन्दी संस्थान द्वारा देश-विदेश से चुने गए हिंदीसेवियों को भव्य समारोह में पिछले दिनों राष्ट्रपति द्वारा पुरस्कृत किया गया। सम्मानित लोगों को शॉल और प्रशस्ति पत्र के साथ एक-एक लाख रुपये के चेक भी भेंट किए गए। कथाकार-पत्रकार और 'लोकायत' के संपादक बलराम को रचनात्मक लेखन और पत्रकारिता के क्षेत्र में उनकी दीर्घकालीन सेवाओं के लिए गणेश शंकर विद्यार्थी पुरस्कार प्रदान किया गया। इससे पहले गणेश शंकर विद्यार्थी पुरस्कार धर्मवीर भारती, अक्षयकुमार जैन, मायाराम सुरजन, कन्हैयालाल मिश्र प्रभाकर, लक्ष्मी शंकर व्यास, कपूरचंद्र कुलिशा, बाल शौरि रेड्डी, हिमांशु जोशी, यदुनाथ थत्ते, राधे श्याम शर्मा, सूर्यकांत बाली, बालकृष्ण पिल्लै, शरद दत्त, ओम थानवी, अच्युतानंद मिश्र, आलोक मेहता, पंकज बिष्ट तथा राजकिशोर आदि को मिल चुका है। छात्रावस्था से ही पत्रकारिता में अपना कैरियर शुरू कर बलराम राष्ट्रीय हिन्दी दैनिक 'आज' के फीचर राइटर पद से होते

खंडवा में निमाड़ की लोक संस्कृति के अध्येयता स्वर्गीय पं. रामनारायण उपाध्याय के स्मरण प्रसंग में शब्द शिल्पियों पर केन्द्रित कैलेंडर का विमोचन।

Print to PDF without this message by purchasing novaPDF (http://www.novapdf.com/)

हुए 'नवभारत टाइम्स' के चीफ-सब बने। इस बीच उन्होंने 'रविवार' और 'करंट' के लिए रिपोर्टिंग भी की और कहानी पत्रिका 'सारिका' के संपादक मंडल में भी शामिल हुए। 'भूमिका', 'शिखर' और 'शब्दयोग' जैसी पत्रिकाओं के बाद फिलहाल समाचार पाक्षिक 'लोकायत' के संपादक हैं। कलम हुए हाथ, गोआ में तुम, मृगजल, अनचाहे सफ़र तथा प्रतिनिधि कहानियाँ (कहानी संग्रह जननी-जन्मभूमि और आवागमन (उपन्यास), माफ़ करना यार (आत्मकथा), औरत की पीठ पर (रिपोर्ताज), आंगन खड़ा फ़क़ीर, आधे-अधूरे परिचय तथा हिन्दी कहानी का सफ़र (समीक्षा), पत्रकारिता के आयाम और वैष्णवों से वार्ता (साक्षात्कार) आदि कृतियों के सर्जक बलराम ने देश और दुनिया की पचास से अधिक भाषाओं की कथाओं का अनुवाद और संचयन कर हिन्दी को 'विश्व लघुकथा कोष' और 'भारतीय लघुकथा कोष' दिए। 'प्रेमचंद रचनावली', 'मानक हिन्दी लघुकथा कोश', बीसवीं सदी की लघुकथाएं और आदिवासियों पर संदर्भ ग्रंथ 'इंद्रावती' का संपादन भी किया। उन्हें देश की अनेक संस्थाओं द्वारा पूर्व में भी कई सम्मानों से विभूषित किया जा चुका है।

बलराम

राष्ट्रपति ने गिरीश कर्नाड, श्याम बेनेगल, नंदकिशोर आचार्य, विजय बहादुर सिंह, अजित कुमार, प्रो. गोपाल राय, प्रो. यशपाल, मधुर भंडारकर, गोपाल चतुर्वेदी, डॉ. दामोदर खड़से, माधुरी छेड़ा, हरिमोहन, बल्ली सिंह चीमा, हरमन वान ओल्फन, पूर्णिमा वर्मन, प्रो. चमनलाल सप्रू, बृजमोहन बख्शी, सुभाष लखेड़ा, प्रो. ली जंग तथा डॉ. सुरेंद्र गंभीर को भी सम्मानित किया।

गाथा मोहनदास की

गत दिनों दिल्ली के श्रीराम सेंटर में उदय प्रकाश की मशहूर कहानी मोहनदास पर आधारित नाटक का मंचन किया गया। यह कहानी अनूपपुर के एक सीधे-सादे, लेकिन क्रूर और भ्रष्ट व्यवस्था के शिकार मोहनदास की है, जिसकी पहचान तक छिन चुकी है, वह जहाँ भी न्याय की गुहार लगाता है, उसकी आवाज़ सुनने वाला कोई नहीं है। राजेन्द्र नाथ निर्देशित इस नाटक की सबसे बड़ी ख़ासियत यह है कि सूत्रधार कहानी को आगे बढ़ाता है। पात्र ख़ुद अपना परिचय देते हैं। मोहनदास की कहानी के साथ उस दौर में दुनिया में घट रही बड़ी ऐतिहासिक घटनाओं का भी ज़िक्र आता रहता है।

मोहनदास जैसी गंभीर, राजनैतिक प्रपंच से भरी कहानी को मंच पर उतारना आसान नहीं है लेकिन नाटक ने इस कठिन चुनौती को बड़ी सरलता से निभाया है।

दानी ने सुनायी कहानी

मध्यप्रदेश की साहित्यिक संस्था 'ओटला' द्वारा आयोजित एक कार्यक्रम में गत दिनों जबलपुर के कहानीकार राजेंद्र दानी ने अपनी कहानियों का पाठ किया। सबसे पहले डॉ. ओम प्रभाकर के कविता संग्रह काले अक्षर भारतीय का लोकार्पण हुआ और उसके बाद दानी ने अपनी तीन कहानियों पतंग, आईना और पारगमन का वाचन किया। समकालीन कहानी की रचना प्रक्रिया पर बोलते हुए उन्होंने कहा कि आज लेखक अपनी रचना का सामूहिक रूप से बचाव करते हैं। कार्यक्रम के संचालक मालवा के युवा कहानीकार सत्यनारायण पटेल ने कहा कि आज की कहानी पूरी बेबाकी के साथ अपने वक़्त के ज़रूरी सवालों पर बात करती है।

मेवाड़ी को घासीराम पुरस्कार

प्रयास संस्थान की ओर से हर वर्ष दिया जाने वाला प्रतिष्ठित डॉ. घासीराम वर्मा साहित्य पुरस्कार वर्ष 2012 के लिए कांकरोली के प्रख्यात कथाकार कमर मेवाड़ी को उनकी पुस्तक 'जिजीविषा और अन्य कहानियाँ' के लिए दिया गया है। चुरु सूचना केन्द्र में आयोजित समारोह में उन्हें पुरस्कार स्वरूप मानपत्र और पांच हज़ार एक सौ रुपए की सम्मान निधि भेंट की गई। समारोह के मुख्य अतिथि एवं प्रख्यात हिन्दी साहित्यिक पत्रिका 'कथादेश' के संपादक हरिनारायण ने कहा कि कमर मेवाड़ी की कहानियों में हर उस आदमी का संघर्ष है, जो लगातार छला जा रहा है।

सम्मानित साहित्यकार कमर मेवाड़ी ने अपने वक्तव्य में कहा कि मेरे भीतर एक बेचैनी है जो मुझे लिखने के लिए बाध्य करती है। उन्होंने कहा कि कहानी के लिए मैं काल्पनिक पात्रों का सृजन नहीं करता और मेरी कहानियाँ यथार्थ के धरातल पर खड़ी हैं।

इन्द्रप्रस्थ विश्वविद्यालय में असगर वज़ाहत

जगहें देखना पर्याप्त नहीं होता, लोगों से मिलना और उनको ठीक से जानना ही असल में यायावरी है। सुप्रसिद्ध कथाकार असगर वज़ाहत ने गुरु गोविंदसिंह इन्द्रप्रस्थ विश्वविद्यालय, दिल्ली के मानविकी संकाय द्वारा आयोजित एक संगोष्ठी में कहा कि मेरी यात्रा पुस्तकें एक सोशल टूरिस्ट की निगाह से लिखे गए वृत्तान्त हैं जिनका उद्देश्य केवल पर्यटकों की तरह देश-विदेश घूमना नहीं बल्कि लोगों और संसार को जानना है।

यह गोष्ठी राजकमल प्रकाशन द्वारा प्रकाशित असगर वज़ाहत की प्रसिद्ध पुस्तक 'चलते तो अच्छा था' के सन्दर्भ में आयोजित की गई थी। इस पुस्तक में असगर वज़ाहत ने ईरान और मध्य एशिया के देशों की यात्रा के संस्मरण लिखे हैं। आयोजन में हिन्दू कॉलेज के सहायक आचार्य और युवा आलोचक पल्लव ने असगर वज़ाहत के कथा साहित्य पर वक्तव्य दिया।

Print to PDF without this message by purchasing novaPDF (http://www.novapdf.com/)

सीखने का हुनर, सिखाने का शऊर

किसी व्यंजन के पकने की सुगंध सचमुच लाजबाव होती है। आस्वाद को लेकर हमारी लालसा बढ़ने लगती है। यह मज़ा उसे ही मिलता है जो पकने की प्रक्रिया का साक्षी बनता है। पकी-पकायी चीज़ों के साथ भला यह आनंद कहाँ।

कथा बिम्बों के अनूठे शिल्पकार तथा दृश्य-रंग संसार के चितेरे शशांक जब अपना यह वक्तव्य दे रहे थे तो सहज ही मन में यह विचार आया कि पकाने की प्रक्रिया के दौरान आँच और आग का संतुलन साधना भी कोई कम चुनौती भरा नहीं होता। समय गहरे अनुशासन की मांग करता है। 'समांतर' द्वारा आयोजित एक माह के नाट्य प्रशिक्षण शिविर की यह समापन शाम थी। प्रशिक्षित नवोदित रंगकर्मी वहाँ अपने रंगमंचीय जीवन को उदित होते देख रहे थे जिन्हें प्रोत्साहित करने की गरज लिए भोपाल का एक बड़ा प्रबुद्ध समाज बतौर दर्शक उपस्थित रहा। यह भी महसूस किया कि नाट्य प्रशिक्षण शिविर के निर्देशक वरिष्ठ रंगकर्मी मुकेश शर्मा ने उन तमाम बारीकियों को लेकर भी गहरी सजगता बरती जो एक नाट्य निर्देशक से गहरी प्रतिबद्धता का आग्रह करती है।

'समान्तर' का नाट्य प्रशिक्षण शिविर

सरकार अथवा अन्य किसी उपक्रम से बगैर किसी आर्थिक सहायता लिए आयोजित इस शिविर की यह आखिरी शाम व्यंग्यकार स्व. शरद जोशी के नाम थी जहाँ उनके नाटक - 'बैंगन की नाव' के अलावा उनकी पाँच अन्य व्यंग्य रचनाओं- 'ये नहीं चलेगा', 'मेरे काँटे में फँसा सातवाँ बेड़ा', 'आसनसोल की यात्रा', 'अपनी-अपनी क़ैद' और 'सारी बहस से गुज़रकर' को रंगमंचीय सूत्रों में पिरोया गया। दो से पन्द्रह मिनट समयावधि में मंचित इन नाटकों का निर्देशन क्रमशः अमित आर्य, विकास जैन, पवन वर्मा, रौशन वर्मा, रामकिशन तथा इंज़माम उलहक ने किया। तहमद-पर का प्रतीकात्मक उपयोग कर गोधराकाण्ड से लेकर 2जी घोटाले तक हमारे समय की विसंगतियों की तरफ इशारा करतीं ये नाट्य प्रस्तुतियां स्व. उत्पल दत्त के उस कथन के पक्ष में खड़ी नज़र आईं कि 'नाटक के लिए सिर्फ और सिर्फ अभिनेता और दर्शक ही ज़रूरी होते हैं। बाकी रंगमंचीय तत्व महज़ नाटक को निखारते हैं।' दुष्यंत कुमार स्मृति संग्रहालय परम्परागत नाट्य प्रेक्षाग्रह से सम्पन्न नहीं है और ना ही प्रकाश परिकल्पना मंच व रूप सज्जा तथा वस्त्र विन्यास जैसे आयामों को संजो पाना संभव था उसके बावजूद अभिनेताओं ने संकोच और विश्वास की संधि पर स्वयं को प्रस्तुत किया। प्रस्तुतियों के बीच ख़ास बात यह थी कि मंच का सारा काम परस्पर एक हिस्से की तरह जुड़ा रहा। गुत्थमगुत्था किए बिना एक प्रस्तुति दूसरी प्रस्तुति के लिए ज़मीन तैयार कर देती। महाराष्ट्र का लोकसिद्ध संकीर्तन विट्ठल... विट्ठल गाती रंगकर्मियों की टोली अगले नाटक के द्वार पर दस्तक देती और अगला नाटक शुरू।

यानि न कोई सेकेण्ड बेल और ना ही थर्ड बेल!

लगभग तीन दशक के बाद मुम्बई से लौटे वरिष्ठ रंगकर्मी नाट्य निर्देशक व सिनेकर्मी मुकेश शर्मा दरअसल इस शिविर के बहाने एक बार फिर भोपाल के नाट्य आंदोलन में शामिल हुए हैं। निश्चित ही यह शिविर उनकी शानदार वापसी को रेखांकित करता है। शिविर को लेकर मुकेश कहते हैं- 'इस दौरान मैंने शिद्दत से महसूस किया कि रंगकर्म को लेकर, सिनेमा और टेलीविजन की चमकदमक के बावजूद नई पीढ़ी में उत्साह कम नहीं है। कमी है तो उचित और समुचित मार्गदर्शन की। नए बच्चे भलीभाँति जानते हैं कि नाट्य शिविर नर्सरी की तरह होते हैं जहाँ ककहरा सीखना बहुत ज़रूरी होता है। तब कहीं जाकर ही जीवन की भूमि पर अभिनय के महाविद्यालय की भव्य इमारत खड़ी की जा सकती है। मुकेश जोड़ते हैं कि सीखने की ललक जितनी प्रबल होती है सिखाने में उतना ही मजा आता है। सुखद संयोग ही था कि भोपाल के उस मोहल्ले (टी.टी. नगर) में जहाँ शरदजी की स्मृतियाँ आज भी महकती हैं शरदजी की रचनाओं को प्रस्तुत किया गया।

इस अवसर पर उपस्थित कवि व नाटककार राजेश जोशी कहते हैं- 'बैंगन की नाव' का मंचन सत्तर के दशक या उसके आसपास कारंतजी ने म.प्र. कला परिषद् में किया था। इसके बाद शायद इस नाटक का यह दूसरा मंचन है। एक तरह से इस शिविर की यह सबसे बड़ी उपलब्धि है कि बयालीस वर्ष बाद नाट्यप्रेमियों को यह नाटक देखने मिला। वो भी बिना किसी तामझाम के। पूरी सहजता व सम्प्रेषणीयता के साथ। मंचित दीगर नाटकों को लेकर राजेश जी कहते हैं- शेष पाँच नाटक शरदजी की व्यंग्य रचनाओं पर आधारित हैं। हालांकि मंच तक आते-आते कोई भी रचना या नाट्य आलेख लेखक के बाद निर्देशक तथा अंत में अभिनेता के आचरण और उसकी अवधारणाओं के ज़रिए अभिव्यक्त होता है। ऐसे में बड़ी ज़िम्मेवारी यह बनती है, खासकर अभिनेता की कि वह रचना की आत्मा से खिलवाड़ न करे बल्कि अपने पुरुषार्थ से उसे जीवंत देह प्रदान करे। निश्चित ही इन नवोदित कलाकारों ने ऐसा कुछ नहीं किया जहाँ निराशा हो। जहाँ तक दैहिक भाषा का सवाल है तो आते-आते ये कलाकार अभी पकेंगे। इनमें माद्दा है कि ये अपने भीतर के रंग को और गाढ़ा करेंगे।

जोशी का मानना है कि इस तरह के शिविर नाटक के भविष्य को लेकर ज़रूरी है, ख़ासकर मौजूदा हालातों में। ऐसे शिविरों में अनुभवी रंगकर्मियों को भी शिरकत करना चाहिए। क्योंकि नाटक भी सतत सीखने की चीज़ है।

-वसंत सकरगाए

Print to PDF without this message by purchasing novaPDF (http://www.novapdf.com/)

आनंद का अनहद

मांदल्या मांदली बजाड़ रे घड़िक नाचि भाला रे

तारा हाथ नो चालो रे, मारा पाय नो चालो रे

तल्या तलिरे बजाड़ रे घड़िक नाचि भाला रे

फेफरया फेफरी बजाड़ रे घड़िक नाचि भाला रे

तारा मुहंडे चालो रे, मारा पायनो चालो रे

मांदल्या मांदली बजाड़ रे...

शेष विशेष

विनय उपाध्याय

भील नर्तक अपने साथी मांदल वादक से गुहार कर रहा है- तू मांदल बजा, हम थोड़ी देर नाच लेंगे। तेरे हाथ की थाप से मेरे पैरों की ताल मिल जाये। थाली और शहनाई वाले से भी उसकी गुहार है कि तुम अपने साज़ की सुरीली, लय भरी तान छेड़ो हम थोड़ी देर थिरक लेंगे कि इस प्रेमिल मनुहार में जीवन के आंतरिक उछाह और आनंद की आकांक्षा झर रही है।

साज़ और शरीर की यह आपसदारी, दरअसल जीवन और संगीत के अनटूटे आदिम रिश्ते का साक्ष्य भी है। यह सिर्फ जनजातीय जीवन और परिवेश की परिधियों पर सिमटी रहने वाली वास्तविकता नहीं है, यह एक सार्वभौम सत्य है जो किसी भी मनुष्य की देह में समान भाव से घटित हो रहा है तो निश्चय ही यह प्रकृति के प्रति उसके अनन्य सहकार या सह-अस्तित्व का ही परिचायक है। तब संगीत को बुनियादी तौर पर भूगोल या समुदाय की सीमाओं में नहीं बाँटा जा सकता। आदिवासी या जनजातीय संगीत की परिभाषा भी इसी व्यापक और उदार दृष्टिकोण की दरकार रखती है।

आप कल्पना करें हमारे उस आदि पुरुष की जिसने पहली बार किसी ध्वनि को, किसी लहर को अपने भीतर महसूस किया होगा। तब किसी साज़ और कंठ के बिना भी संगीत की किसी सरगम ने उसे रोमांचित किया होगा। मेघों की गमक, दामिनी की दमक, हवा की सरसराहट, झरनों का कलकल और पावस की पुलकन ने जब उसके अस्तित्व को पहली बार छुआ होगा तो इस आदिम अहसास की प्रतिध्वनि का जादुई रोमांच जज़्ब करने के लिए वनवासियों की ललक ने नई अंगड़ाई ली होगी। और ऐसा करते हुए उसने अपने आसपास की चीज़ों में ही संगीत के नाद की खोज की होगी। आदिवासियों के वाद्यों में हमारा यही परिवेश अस्तित्वमान है। अगर क्षिति, जल, पावक, गगन और समीर इन पांच तत्वों से मिलकर हमारी देह का निर्माण हुआ है, तो यही पंचभूत नाद बनकर हमारी चेतना में बार-बार घुलते-मिलते हैं। हमारे राग-विराग, संयोग-वियोग, आँसु और मुस्कुराहटों, चुप्पियों और कोलाहल जीवन की प्रत्येक हलचल में प्रकृति का कण-कण गूंजता है। वन-प्रांतरों में रहने वाली जनजातियों ने इसी महाभाव को

Print to PDF without this message by purchasing novaPDF (http://www.novapdf.com/)

अपनी कल्पना और सूझ-बूझ से सहज उपलब्ध संसाधनों में अर्जित किया। यही वजह है कि व्याकरण और शास्त्र सम्मत निर्देशों का दंभ दरकिनार करते हुए आज भी परंपरा के साज़ों की गमक बाकी है। वे पीढ़ी-दर-पीढ़ी उसे अपनी आस्थाओं में बसाए हुए हैं। घर्षण, मिश्रण और प्रदूषण के इस युग में भी उनके सौंधे सुरों की असलियत पर ग्रहण नहीं लगा है। जनजातीय जीवन में सुषीर, ताल और अवनद्ध वाद्यों की एक सुदीर्घ श्रृंखला है जिसमें आदिवासी समाज, संस्कृति और प्रकृति की विविधा को देखा-महसूसा जा सकता है। ये वाद्य लकड़ी, चमड़े और धातुओं से निर्मित होते हैं। जिनमें आदिवासियों का अपना संज्ञान निहित होता है। अवसर और समय के साथ जुड़े क्रियाकलापों के दौरान ये साज़ इस्तेमाल में लाए जाते हैं।

देखने की बात यह है कि साज़ और शरीर का यह तालमेल आदिवासी और लोक नृत्यों ही नहीं शास्त्रीय नृत्यों में भी समान और अपरिहार्य है। एक अजीब उत्प्रेरक घटना होती है जब वाद्यों की उठती गमक के साथ नर्तक की देह यकायक ऊर्जा और आनंद से भर उठती है तथा भीतर का रोमांच विभिन्न आवर्तनों के साथ देह-लीला के सुन्दर आवेग जादुई सम्मोहन जगाने लगता है। गुजरात का 'सिद्धिधमाल' नृत्य बड़े ड्रम के आकार वाले ताल वाद्यों के बिना संभव नहीं। मंथर चाल से शुरु हुआ नृत्य सिद्धि युवकों के हैरत अंगेज कारनामों के साथ संपन्न होता है। यहाँ भी साज़ों की लयकारी और उसके साथ पूरे शरीर की जुगलबंदी मन बांध लेती है। गुजरात का ही अपार लोकप्रिय 'गरबा' ढोल की ताल के बगैर तो जैसे अधूरा ही है। मालवा की 'मटकी' तो उठती गिरती तालों के साथ थिरकती नृत्यरत देह के रोम हर्षक दृश्य उपस्थित कर देता है।

लोक संस्कृति विशेषज्ञ डॉ. कपिल तिवारी जनजातीय नृत्यों के प्रभाव को प्रकृति की नातेदारी से जोड़ते हैं- 'बहुत हद तक प्रकृति नियामक है जनजातीय नृत्यों के लालित्य की। सारे आदिवासी नृत्य प्रकृति को ही समारोहित करते हैं। वे मनुष्य के आदिम उल्लास की अभिव्यक्ति और प्रकृति के प्रति अनन्य कृतज्ञता और धन्यवाद है। केवल नृत्य ही वह माध्यम है जिसमें शरीर, मन और हृदय की समग्रता है और उसी से यह कृतज्ञता निवेदित हो सकती है।' यह सच है कि आदिवासी नृत्यों के पूरे रचाव में प्रकृति प्रतिध्वनित होती है।

सारे आदिवासी नृत्य प्रकृति को ही समारोहित करते हैं। वे मनुष्य के आदिम उल्लास की अभिव्यक्ति और प्रकृति के प्रति अनन्य कृतज्ञता और धन्यवाद हैं।

रूपक रचने लगता है। कला आलोचक श्री अशोक वाजपेयी नृत्य को देह की अनश्वरता का उत्सव कहते हैं और कथक नृत्य गुरु पं. बिरजू महाराज ने अपने अनुभव के सार को एक सूत्र दिया है- ''नृत्य तो लय की कविता है''।

बहरहाल लोक की भूमि पर ही पुष्पित-पल्लवित हुए शास्त्र सम्मत नृत्यों की विवेचना पर न जाते हुए विचार की आवृत्ति को लोक तथा आदिवासी नृत्यों के आसपास ही सीमित रखें तो वाद्य और नर्तकों के रोमिल रिश्ते के साक्ष्य भारत के कई सूबों-अंचलों में मिलते हैं। बड़ी ही दिलचस्प मिसाले हैं। राजस्थान के मरुस्थलों के घुमक्कड़ कालबेलिया जैसे ही बीन की तान और ढोलक की थाप छेड़ते हैं, नर्तकी देह अचानक नागिन सी बल खाने लगती है। यही नज़ारा पेश करती है वहाँ के भँवई नृत्य की मुद्राएँ। जैसे-जैसे ढोलक की थापें दुगुन-चौगुन गति के साथ चरम पर पहुँचती हैं, भँवई नर्तकी का ढोलक, मांदल, टिमकी, तुड़बुड़ी, बाँसुरी आदि वे साज़ हैं जिनमें जल, जल, वन, पर्वत बल्कि संपूर्ण ब्रह्माण्ड को नापती स्वर लहरियाँ हैं। अरण्य में खिलते फूल उनका श्रृंगार हैं। धरती की गोद उनका मंच है और खुला आकाश छत। पेड़-पौधे, झील, नदी, सूरज, चांद, तारे, बादल किसी न किसी रूप में उनके आराध्य हैं। डालियों पर आ रही कलियाँ, कलियों से खिल रहे पुष्पों की महक, वृक्षों पर लग रहे फल, नयी आ रही कोंपलें, पंछियों की चहक, पशुओं की संगत, पावक की फुहार और बसंत की बहार, प्रकृति और परिवेश की ऐसी कोई क्रिया नहीं जो नृत्य संगीत का हिस्सा न बनती हो। यह सब व्यापार स्वर-लय-ताल भरी साज़ों की संगत के बिना अधूरा ही है।

मध्यप्रदेश की गोंड जनजाति के 'करमा' नृत्य को ही लें। यह कर्म की प्रेरणा देने वाला सुन्दर नृत्य है। जिसमें कर्म को देवता मानकर पूजा जाता है। कोई भी ऋतु हो, यह नृत्य अनुष्ठान की पवित्रता के

Print to PDF without this message by purchasing novaPDF (http://www.novapdf.com/)

साथ स्त्री-पुरुष मिलकर करते हैं। गोंड जन करमी, कलमी और हलदू पेड़ की डाल जंगल से लाते हैं और कपड़ा लपेटकर गांव के एक निश्चित स्थान पर गाड़ते हैं। कर्म वृक्ष की पूजा करने के उपरांत सामुदायिक भोज होता है और फिर सवाल जवाब के गीत गाकर ढोलक की थाप तथा बाँसुरी की तान पर थिरकते युवक-युवती उल्लास से भर उठते हैं।

गोंड जनजाति का ही एक और अनूठा नृत्य है- 'सैला', जिसे शरद ऋतु की चांदनी रातों में किया जाता है। इस नृत्य का आकर्षण है हाथ में सवा हाथ के डंडों का प्रयोग। मान्यता है कि सरगुजा की रानी से अप्रसन्न होकर आदि देव बधेसुर अमरकंटक चले गये तब गोंड वनवासियों ने सैला यानी बाँस के डंडे हाथ में लेकर बधेसुर की नृत्यमय आराधना की थी। डिंडोरी जिले के चाड़ा के घने जंगलों में विकास करने वाली आदिम जनजाति बैगा के पास भी नृत्य की अनमोल संपदा है। प्रमुख रूप से 'परधौनी' नृत्य आनंद और आंतरिक हर्ष की अभिव्यक्ति का प्रतीक है। विवाह आदि के अवसर पर बारात की आगवानी परधौनी के साथ की जाती है। लड़के वालों की ओर से आंगन में हाथी बनवाकर नचाया जाता है। मकसद एक अवसर विशेष को आनंद से बदलने से है। बैगाओं के लिए फाग का पर्व भी नृत्य के बिना संभव नहीं। गाँव के खुले प्रांगण में फागुन का उत्सव मनाने बैगा जन इकट्ठा होते हैं और बड़े ढोल की थाप पर विभिन्न देह मुद्राएं उकेरते हुए गोल घेरा बनाकर नाचते हैं। ऋतुओं की रंगत के साथ सौहार्द्र का आत्मीय तालमेल दिखाई देता है।

होली के साथ सहज ही याद आता है झाबुआ-आलिराजपुर इलाकों के भीलों का 'भगोरिया'। बासंती सरसराहट के साथ उम्र के आंगन में खिलता बसंत भगोरिया की पहचान है। होली के आते ही भीलों के हाट सजने लगते हैं और यहीं पर युवक-युवतियों का मिलन होता है। वे नृत्य करते हुए एक-दूसरे को रिझाते हैं और अपने जीवन साथी की तलाश कर दाम्पत्य की गुलाबी गाँठ बांध देते हैं। नृत्य में यह प्रसंग अत्यंत हृदयग्राही हो उठता है। घुटने तक ऊँची धोती, कुर्ता, सिर पर पगड़ी और कांधे पर तीर-कमान लिए भील युवक, बड़े घेर का घाघरा और ओढ़नी पहने श्रृंगार से लक-दक युवतियों के साथ बड़े ढोल की थाप पर थिरकते हैं। विभिन्न आकृतियों के साथ नृत्य धीमी चाल से तेज़ गति पकड़ता चरम पर पहुँचता है। भगोरिया की लोकप्रियता का घेरा पिछले एक दशक में अपने जनपद की हदें फलांगता सात समंदर पार के लोगों तक भी पहुँचा है।

इधर गोंड जनजाति के ढुलिया समूह के 'गुदुमबाजा' नृत्य ने भी सहसा लोगों का ध्यान खींचा है। परंपरागत जनजातीय नृत्यों में गुदुमबाजा धार्मिक और सामाजिक पर्व-प्रसंगों से जुड़ा है। एक दर्शन से भी ज़्यादा ढुलियाजन गले में नगाड़े के आकार का तालवाद्य गुदुम टांगकर चमड़े की एक छड़ी से आघात करते हैं। शहनाई की लोक धुन पर विभिन्न ताल आवर्तन वातावरण की नीरवता को दिव्य संगीत में तब्दील कर देते हैं। कोरकुओं की चर्चा के बगैर मध्यप्रदेश के जनजातीय सांस्कृतिक वैभव को जानना अधूरा उपक्रम होगा। छिंदवाड़ा, बैतूल, हरदा, खंडवा, होशंगाबाद के समीपवर्ती इलाकों में कोरकुओं का वास है। कोरकुओं के पास अपने नृत्य-संगीत की सम्पन्न विरासत है जिसमें उनकी जातीय स्मृतियों, विश्वास और आस्था के आयाम प्रकट होते हैं। पुरुष और स्त्रियाँ प्रायः बराबर से नृत्य में शरीक होते हैं। स्त्रियों के हाथ में चिटकोला तथा दूसरे हाथ में रुमाल और पुरुषों के हाथ में घुंघरमाल तथा पंछा होता है। गादली, थापटी, ढांढल, होरोरिया, चिलौरी, आदि कई नृत्यों का प्रचलन है।

'थापटी' नृत्य में महिला-पुरुष गीत गाकर नृत्य करते हैं। यह नृत्य विवाह के साथ ही अन्य घरेलू खुशियों के अवसर पर भी सहज आनंद के लिए किया जाता है। ढोलक और बाँसुरी नर्तकों के भीतरी उत्साह को प्रेरित करते हैं। कोरकुओं की किशोरियों में 'चिलौरी' नृत्य का प्रचलन है जिसमें वे वृत्ताकार नाचती हुई अपनी कामनाओं को अभिव्यक्त करती हैं। 'ढांढल' पुरुष प्रधान नृत्य है जिसे ग्रीष्म ऋतु की रातों में किया जाता है। पावस की प्रतीक्षा को नृत्य में आह्लादित अवकाश में बदलते युवक ढांढल यानी आड़ी लकड़ी को कलात्मक आयाम देते हुए लहराकर नृत्यमय आकृतियाँ उकेरते हैं। कोरकुओं का ही एक अन्य नृत्य 'ठाठिया' में दीपावली की खुशियाँ साकार होती हैं। पुरुष, पशुओं के बालों से बनी रस्सी में कौड़ियों की लंबी-लंबी लड़ियाँ गूंधकर पहनते हैं। सुषीर वाद्य के बतौर शामिल होती हैं बाँसुरी और भैंस का सींग। दरअसल दीपावली के बाद पहले लगने वाले हाट को ठाठिया कहा जाता है। यह हाट भीलों के भगोरिया का स्मरण कराता है। इस हाट से ही पलायन कर कोरकु युवक-युवती भी विवाह रचाते हैं।

साज़ों के आसपास सिमटा शरीर का यह सम्मोहन इस धारणा को पुष्ट करता है कि हमारे ही चित्त के राग-विराग ध्वनियों में बसे हैं। ये आवाज़ें पूरी समष्टि में अलग-अलग रूपायित हैं। इन आवाज़ों ने अपने घर बसा लिए हैं। हमारी देह, हमारा मन जब-जब अपनी ही आवाज़ों से गलबाहें करने को ललकता है, साज़ के इन घरों से सरगम फूटता है। कबीर ने सच ही कहा है- 'कबीरा यह तन ठाठ तंबूरे का'। जीवन तो आनंद का अनहद है। ध्यान लग जाए तो आत्मा में इन स्वर लहरियों को सुना जा सकता है।

Print to PDF without this message by purchasing novaPDF (http://www.novapdf.com/)

संपादकीय कविता में!! दूसरे उपन्यास से तीसरे उपन्यास तक। इशारों-इशारों में सृजनात्मकता के उत्स के सुखद कष्ट को उद्घाटित कर दिया। बढ़िया। 'कविता के गांधी' - उदय प्रकाश के इस लेख ने बांधा। भवानी दादा का काव्यपाठ करते हुए चित्र भी बहुत बोलता हुआ है। अब हिन्दी कविता यों जनता से सीधे संवाद कहाँ कर पाती है? उसका शीर्षक भी पकड़ता है- 'जनता के बीच, जनता का कवि'। अमीर खाँ साहब पर संक्षिप्त किन्तु सारगर्भित लिखा है प्रभु जोशी ने।

-चन्द्रसेन विराट, इन्दौर

●●●

इस बार भी 'रंग संवाद' का अंक देखकर प्रसन्नता हुई कि रंगकर्म और अन्य कलाओं की एक सार्थक पत्रिका आज के ज़माने में भी प्रकाशित हो रही है। **-प्रताप सहगल,** दिल्ली

●●●

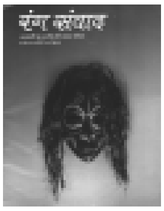

यह संस्कृति पर एक मुकम्मल पत्रिका है। हर लेख संस्कृति के वितान के किसी न किसी पक्ष को छूता है। चूंकि हम लोग लम्बे अर्से से बच्चों के साथ काम कर रहे हैं, इसलिए संतोष चौबेजी की चिंता को समझ सकते हैं, जिसमें उन्होंने बच्चों के लिए लिखने का मुद्दा उठाया है। हमें तो यह भी लगता है कि बच्चों के साहित्य पर गंभीर, विचार-विश्लेषण की और भी ज़्यादा ज़रूरत है। 'रंग संवाद' में सिनेमा और रंगमंच के रिश्तों पर और भी योजनाबद्ध सामग्री दी जा सकती है।

-राजाराम साहू, जयपुर

●●●

इंटरनेट-टीवी के वर्तमान युग में रंग संवाद जैसी पत्रिकाओं का नियमित प्रकाशन किसी भागीरथी प्रयास से कम नहीं। जनवरी-मार्च अंक में रंगमंच पर स्त्रियां, भिखारी ठाकुर के जीवन एवं उनके रंगकर्म पर भी अनिल पतंग का आलेख लोक नाट्य का अनगढ़ हीरा बेहद पसंद आया। स्तरीय एवं ज्ञानवर्द्धक सामग्री के लिए वनमाली सृजन पीठ, संतोष चौबे एवं विनय उपाध्याय समेत पूरी टीम को साधुवाद।

-डॉ. ओमेन्द्र कुमार, कानपुर

नए का पुनराविष्कार

साहित्य, संस्कृति और कलाओं के क्षेत्र में निवेश किसी राष्ट्र और समाज के भविष्य में निवेश होता है, जिससे आने वाली पीढ़ियाँ बेहतर जीवन हासिल कर सकती हैं। इसके लिए उम्मीद की जाती है कि केन्द्र और राज्य सरकारें जरूरी संसाधन जुटाएंगी। वे जुटाती भी हैं, लेकिन सरकारी तामझाम और राजनीतिक दखल उन्हें उच्चस्तरीय काम नहीं करने देता है। मध्यप्रदेश ने एक समय महत्वपूर्ण भूमिका निभाई थी। ऐसा ही एक उपक्रम है 'रंग संवाद', जिसका प्रकाशन साहित्यिक-सांस्कृतिक संस्थान वनमाली सृजन पीठ से होता है।

पत्रिका परंपरा और आधुनिक आग्रहों के बीच संवाद की हिमायती है। संपादकीय में संतोष चौबे लिखते हैं, 'ढूंढ़े नहीं मिलता सूत्रधार, जो बिना उलझे कह सके कहानी, फिर कहानी का भी कहां भरोसा, वह कभी निबंध, कभी संस्मरण, कभी कविता में बदल जाते हुए याद दिलाती है कि भटक गई है रास्ते से। उसे एक बार फिर शुरू से ही खोजना होगा।' यह है सृजनशील लेखक का आत्मसंघर्ष, जहां नया लिखने के लिए हर बार अनुभवों का पुनराविष्कार करना होता है। इस अंक में देवेंद्रराज अंकुर 'रंगमंच का समाजशास्त्र', तो राजेन्द्र उपाध्याय 'रंगमंच पर स्त्रियां' तलाशते नजर आते हैं। 'छवि के छोर' तलाशती कमल कुमार। पापिया दास गुप्ता से विनय उपाध्याय - एकता गोस्वामी का संवाद पाठक को बहुत कुछ नया दे देता है। 'कविता के गांधी' भवानी प्रसाद मिश्र को उदय प्रकाश, तो उस्ताद अमीर खां को प्रभु जोशी और जन्मशती पर मदनमोहन मालवीय को आभा भारती ने याद किया है। भारत की पहली महिला प्रेस फोटोग्राफर होमई व्यारावाला की कहानी नवल जायसवाल ने कही तो 'कोणार्क' और 'विसर्जन' जैसे नाटकों पर भी चर्चा की गई है। विदेसिया लोकनाट्य के सितारे भिखारी ठाकुर और राई नृत्य की चर्चा के अलावा खंडवा की यादों में खो गई है कृष्णा अग्निहोत्री और हृदयनाथ मंगेशकर के अंतरंग में उतर गए हैं विनय उपाध्याय। उन्होंने तो पाठकों को 'आगरा बाजार' की सैर भी करा दी। पत्रिका में देशभर के घटनाक्रमों का एक खंड भी है, जो भारत दर्शन करने जैसा होता है।

-दैनिक जागरण, दिल्ली में प्रकाशित टिप्पणी

Print to PDF without this message by purchasing novaPDF (http://www.novapdf.com/)

संभवतः पहली बार कविता के स्वरूप में संपादकीय पढ़ा जिसमें पढ़े-देखे कई चेहरे, चित्र और कहानियाँ दूसरे के अधूरेपन को पूरा करने के लिए...। 'रंगमंच पर स्त्रियाँ' तथा 'कैमरे से दिल्लगी की अनूठी दास्तान' पढ़ने के बाद आनंद की अनुभूति हुई। जानकारी रोचक है और साहस की प्रेरणा देती है। **-हरेराम वाजपेयी,** इन्दौर

●●●

रंगमंच पर इतनी विपुल और ज्ञानपरक सामग्री उपलब्ध कराने वाली पत्रिका केवल 'रंग संवाद' ही है। बतौर संपादकीय संतोष चौबे की कविता में एक रचनाकार के द्वंद्व और लेखन की पीड़ा को समझा जा सकता है। यह कविता लेखक के अंतरंग को बहुत सहजता से खोलती है। देवेंद्रराज अंकुर ने रंगमंच के समाजशास्त्र को बहुत बारीकी से समझा है। पापिया दास गुप्ता का साक्षात्कार रोचक है। आगरा बाज़ार पर विनय का लेख अभिनव जानकारियों से भरा है। प्रभु जोशी और उदय प्रकाश के लेख पठनीय हैं। 'रंग संवाद' को साधुवाद कि हर बार रंगमंच और कला के नए आयामों को उद्घाटित करने में सफल होता है। **-कैलाश मंडलेकर,** खंडवा

●●●

राई नृत्य के लोप पर रमेश दत्त दुबे का आलेख स्मृतियों के जंगल में ले गया। जब लोक-कवि ईसुरी के जीवन और संघर्ष पर लिखे नाटक 'हंसा उड़ चल देस बिराने' के दौरान इस नृत्य की खूबियों में मन रमा था। शहरी परिवेश में पली-बढ़ी आठ लड़कियों ने इसमें न केवल अभिनय किया था वरन् राई नृत्य की कला को भी सागर के संजीव चौधरी, प्रकाश यादव और राम सहाय पाण्डे ने सीखा था। सागर के शिवरतन यादव और ललित मोहन ने इन सारे राई विशेषज्ञों को विवेचना रंगमंडल के लिए सहज ही उपलब्ध करा दिया था। मुख्य नर्तकी की भूमिका स्वाति मोदी ने की थी। उनके कथक गुरू ने जब स्वाति को मंच पर राई नाचते हुए देखा बहुत गुस्सा हुए और स्वाति को कथक सिखाना बंद कर दिया। उन्हें राई नृत्य वैश्याओं का नाच लगा था स्वाति ने भी उन्हें छोड़ दिया और नाटक में काम करती रहीं। करीब 60 प्रदर्शनों में उसने काम किया। परिणामतः राई नृत्य की जबलपुर में ऐसी धूम मची कि 300 लड़कियों ने राई का प्रशिक्षण लिया। आज स्कूल, कॉलेज की प्रतियोगिताओं में 'राई' अनिवार्य है। मुझे आश्वस्ति है पारंपरिक राई में कभी भले ही आई हो पर वह बिलाई नहीं है। आगरा बाजार पर केंद्रित आलेख स्मृतियों में ले गया, विनय जी को बधाई। **-अरुण पांडेय,** जबलपुर

●●●

बदरंग होती, ज़िंदगी का रंग-ढंग बखूबी उकेरा है 'रंग-संवाद' के मुख पृष्ठ ने। जीवन की बेतुकी सोच ने काव्य को तुकहीन कर दिया है, तो क्या आश्चर्य? संपादकीय का गद्य-काव्यांश ''और लिखते हैं यूँ ही सी कोई बात'' को हर सिरे से नकारती है इस अंक की सामग्री। **-पं. गिरिमोहन गुरू,** नर्मदापुरम्

●●●

'रंग संवाद' का रूप निरंतर निखरता जा रहा है और मुख पृष्ठ तो बहुत ही सुंदर, रोचक और सामयिक लगा। 'कानों में पड़े मेरूखंडीय तान' के संदर्भ में प्रभु जोशी ने भूले बिसरे अमीर ख़ाँ साहब की यादें ताज़ा कर दीं। हिन्दुस्तानी शास्त्रीय संगीत में घराना मतलब कि संगीत की सौंदर्य प्रणाली की महत्वपूर्ण भूमिका। **-जनार्दन बी. जोशी,** भोपाल

पुनश्च : संस्कृति की छाँव में बसा शहर

भूली सी याद आई...

प्रिय विनय,

आभारी हूँ कि आपने 'रंग संवाद' में खंडवा की संस्कृति की धरोहर को स्थान दिया। सच तो यह है कि अपनी जड़ों से अलग होना, अरसे तक पीड़ा देता है। और इन जड़ों को ले जाकर लगा भी दें तो उससे लिपटी मिट्टी की सुगंध ऊपर आ तरोताज़ा करने से नहीं चूकती। कई व्यक्तित्वों के आशीर्वाद, प्रेम-स्नेह की सर-सराहट सिर से गुजरने से मैं भी अछूती नहीं रही आलेख में जो भी है वे खंडवा के हैं तो जहाँ भी, जैसे भी मिलेंगे मेरे आत्मीय ही रहेंगे। कभी-कभी इसी आत्मीयता की सुगबुगाहट हवा इतनी तेज हो जाती है कि उनमें हमारी नज़दीकी छुप जाते हैं। कुछ ऐसा ही मेरे साथ हुआ है लेकिन देर आये, दुरुस्त आये। अचानक पुनः कुछ व्यक्तित्व मेरी स्मृति में तेज़ गति से कुलबुला रहे हैं यदि उनका उल्लेख छूटा है तो ये मेरा अपराध जैसा है। भले ही अनजाने में ही यह हुआ, पर है तो त्रुटि जिसके लिए क्षमा न चाहो तो वो कसक बन पीड़ा देगी।

शरद पगारे भी तो खंडवा के हैं। इतिहास क्षेत्र में अग्रणी। आप तो जानते हो कि कैलाश मंडलेकर एक सज्जन सरल सीधे व्यक्ति हैं। न गुट, न कोई पैंतरा। जो अच्छा लगा- कहा, जो नहीं रुचा उस पर एक चुप्पी। खंडवा की सरजमीं में कवि, कहानीकार, लेखक जन्मे। वहीं कैलाश ने व्यंग्य को अपनाया। अब इन सभी रचनाकारों की ऊंचाई तो समय ही तय करेगा। कैलाश के साथ दीपक चैतन्य का भी गोल हँसमुख चेहरा घूम राह है। सर हिला कहते- दीदी अच्छी रचना है। चैतन्य का काम भी कुछ कम नहीं है। नाटक के प्रति रुझान, हिन्दी में लिखना। इसे अपना गर्व तो नहीं कहूँगी पर जिसने भी जीवन के दुखों में एक तिनका सुख का झोंका दिया उसे स्मरण न करना कृतघ्नता ही है। और ये मेरे स्वभाव में नहीं इसीलिए इन्द्रमणि मिश्रा व गोविंद गीते चाचा को दो शब्दों से स्मरण करना चाहती हूँ। तुम्हें भी स्मरण होगा, इन्द्रमणी जी 'मजदूर' पेपर निकालते थे। शहर की कई शख्सियतों की बुराइयों को उधेड़ देते थे। गोविंद जी सीधे-साधे राजनीतिज्ञ थे। इसी संदर्भ में राजनीति के खिलाड़ी गंगाचरण मिश्रा व कालीचरण सकरगाये भी याद आते हैं जिनकी गतिविधियों से शहर में रौनक फैलती रही। चाचा बाबूलाल तिवारी बड़े बंब में सक्रिय थे। ललित नारायण उपाध्याय, उनके भाई नारायण उपाध्याय जो कवि थे आवश्यक रूप से उल्लेखनीय हैं। ललित बच्चों पर कुछ न कुछ लिखते ही रहते हैं। उनकी पत्नी हेमलता लोकगीतों की दूर-दूर तक खुशबू फैलाती हैं। ऐसी ही खुशबू फैलाने वाला मेरा खंडवा अब ढेरों समस्याओं व सुनसान का डेरा बन रहा है। **-कृष्ण अग्निहोत्री,** इंदौर

Print to PDF without this message by purchasing novaPDF (http://www.novapdf.com/)